प्रेमचंद की रुह

रूह प्रेमचंद की रूह प्रेमचंद की रूह प्रेमचंद की रूह प्रेमचंद

रमेश दवे

प्रेमचंद की रुह
एक संभव संसार की रचना

रमेश दवे की ये कहानियां हिंदी कथा-लेखन में नये किस्म का आनुभूतिक प्रवेश है। इन कहानियों में जो संभव संसार रचा गया है वह चमत्कृत न करके जिज्ञासु बनाता है, किसी प्रकार का कलावादी या यथार्थवादी शिविर-भार बढ़ाने की बजाय अपने ही वस्तु-विश्व में स्वयं को या अपने द्वारा रचे गए किसी विकल्प को पढ़ने के लिए उकसाता है। ये सोलह कहानियां सोलह प्रकार की हैं। न दोहराव हैं, न आकस्मिक मोड़। कहानियां महत्वाकांक्षा का कोई फोर-लेन राजमार्ग न रचकर, अपनी पदचाप से ही अपनी पगडंडियां बनाती हुई निहायत आसान तरीके से गंतव्य तक पर्यटन करती हैं। ऐसा माना जाता है कि स्थितियों, घटनाओं, अनुभूतियों से उपजे संवेदनों को कथा– शब्द पकड़ने की कोशिश करते हैं। किसी भी कथा के केंद्र में यदि मनुष्य और उसके जीवन-घटक हैं तो संवेदनाएं कथा में आकार लेगीं ही—व्यथा बनकर, विडंबना बनकर, या कथा किसी अमूर्त्त में भी घटित होती है तो परिवेशगत विन्यास बनकर। इसलिए इटेलो काल्विनो का यह कथन सही लगता है कि कहानी की रचना एक संभव संसार की रचना है।

इन सोलह कहानियों में अनेक प्रकार के सर्जनात्मक विचलन हैं। शिल्प के नये-नये फ्रेम गढ़े गए हैं, भाषा को कतई बोझिल, रूपकात्मक या आलंकारिक बनाने की कोई कोशिश नहीं। यह भी ज़रूरी नहीं कि इन कहानियों को पढ़ते हुए कहानीकार की निजी ज़िंदगी खोजी जाए क्योंकि कथाकार ने अंत की दो यात्रा-कथाओं को छोड़कर न स्वयं को और न किसी अन्य को यहां रचा है, बल्कि सब अन्य हैं, उत्तम-पुरुष में ही हैं—कहानी 'विज्ञापन' से लेकर 'प्रेमचंद की रुह' तक। यही वजह है कि कथाकार ने स्वयं से बाहर रहकर हर कहानी में एक अलग किस्म का शिल्प अपनाने की कोशिश की है। भावुकता की कोई कृत्रिम कसरत भी नहीं है और न किसी दार्शनिक भंगिमा की सूक्ष्मता। कहानियों में न मौन है, न शोर बल्कि वे मनुष्य के दैनंदिन जीवन-संवाद की भाषा है।

दादा प्रभात भट्टाचार्य
एवं
भाई डॉ. प्रमोद त्रिवेदी
को...

कथा-कथन

'प्रेमचंद की रुह' मेरा दूसरा कहानी-संग्रह है। वैसे मैं अपने को एक स्वाभाविक कहानीकार नहीं मानता, मानना भी नहीं चाहिए। ऐसा लिखा ही क्या है? जो लिखा वह भी तो लंबे समय तक मेरी विस्मृति के बस्ते में बंद ही रहा।

कहानीकार, अकहानीकार या उपन्यासकार होना, अपने जीवन का एक विकल्प रचने की कोशिश करना है। कहानी को उसकी संपूर्णता में लिख पाना एक बड़ी चुनौती है। जीवन का विकल्प स्वयं का हो या अन्य का, कहानी यदि अपना इंपोर्ट रचती है तो कहा जा सकता है कि कहानी में कहानीपन है। मैं नहीं जानता इन कहानियों का वैसा इंपोर्ट होगा या नहीं!

मैंने 1977-78 से 2009 तक 25-30 कहानियां लिखीं। कुछ कहानियां प्रकाशित हुईं, एक कहानी-संग्रह भी 'देह दीक्षा' के नाम से प्रकाशित हुआ। दो संस्करण जरूर हुए लेकिन कुछ अच्छी तो कुछ नाराज़गी और असहमतियों से भरी प्रतिक्रियाएं मिलीं। मुझे लगा देह-कथाएं या काम-कथाएं लिखने से मैंने क्या कोई अपराध कर दिया जबकि काम तो मनुष्य ही नहीं प्राणीमात्र का एक प्राकृतिक संवेग है। कैसी है हमारी सामाजिक नैतिकता? व्यक्ति जो जीवन में करता है, उसे वह काल्पनिक सत्य में भी पढ़ना नहीं चाहता।

इस संग्रह की अधिकांश कहानियां मेरे फाइल-पैड में बंधी अपनी उपेक्षा की धूल ढो रही थीं। अचानक एक दिन अन्य रचनाओं की खोज करते हुए पैड हाथ में आया तो लगा जैसे कहानियां फाइल पैड के बंदीगृह से मुक्त होने के लिए छटपटा रही हैं। सबको निकाला, पढ़ा, सुधारा—फिर से लिखा। अंततः 15-16 कहानियों की यह एक थोथी-पोथी बन गई।

अनेक भूमिका-भक्तों की तरह मेरा मन भी भूमिका लिखवाने को ललचाया। शायद उसके जरिए इन कहानियों के कहानी होने का प्रमाण-पत्र लेने की इच्छा रही हो। फिर सोचा एक-आध किताब को छोड़कर आज तक तो किसी किताब की

भूमिका लिखवाई नहीं, न किसी से कभी अपनी किताब के बारे में दो-शब्द लिखने का आग्रह ही किया, तो फिर इस संग्रह की भूमिका ही क्यों? कहानी को भूमिका के जरिए क्यों पढ़ा जाए? कई बार तो भूमिका भी पढ़ी ही नहीं जाती। पाठक सीधे कहानी में ही दाखिल होते हैं, अच्छी लगी तो पढ़ते हैं, वरना पढ़ना छोड़ देते हैं। पाठक से बड़ा आलोचक हो भी कौन सकता है? यह कथा-कथन लिखकर मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि एक अनगढ़, अपरिचित, अस्वाभाविक कथाकार की यह कथा-कोशिश अगर हिंदी पाठक पढ़ सकें तो इन्हें पढ़ना ही कहानियों का कहानी होना न होना साबित करेगा।

अंत में, इतना ही कहूंगा कि ये कहानियां मेरी कल्पना, अनुभव और कुछ घटनाओं के साक्षात्कार से उपजी हैं परंतु सभी पात्र, स्थान, स्थितियां काल्पनिक हैं। संयोगवश यदि कोई साम्य कहीं हो तो उसे कथाकार की कल्पना ही माना जाए, न कि कोई आक्षेप।

कहानी-संग्रह छापने के लिए प्रकाशक का विनम्र आभार।

–रमेश दवे

अनुक्रम

विज्ञापन	11
लाइब्रेरी	22
झूठ	27
सभ्यता	33
पंछी	41
झगड़ा	46
बच्ची	52
अस्थियों का बंटवारा	58
भुलक्कड़	66
थानेदार साब	72
उसने कुछ नहीं कहा	78
रेल के भीतर	88
कामायनी उर्फ मल्टीनेशनल मां	93
बकिंघम पैलेस के सामने	99
प्रेमचंद की रुह	108
ऑस्ट्रेलिया-ऑस्ट्रेलिया	115

विज्ञापन

बुढ़ापे का अकेलापन इस कदर काटने लगा कि बाबू कंचनप्रसाद के मन में एक हूक उठी। हूक क्या एक मीठा-सा अहसास जगा। अहसास भी क्या एक उत्तेजक प्यास जगी। बस फिर क्या था? अफ़सरी से रिटायर होने पर मोटी-सी पेंशन थी ही, दस कमरे वाले तिमंज़िला घर के दो हिस्से ऊंचे किराए पर दे रखे थे। फिक्स्ड डिपॉजिट में खासी रकम थी, पेंशन बीमा भी था और शेयर में लगे पैसे से मंदी के पहले काफी मुनाफा भी कमा लिया था। इतना समृद्ध अर्थशास्त्र होने के बावजूद, अकेलेपन की यह गरीबी? धत्त्, इस गरीबी को हर हालत में घर से बाहर कचरे की तरह फेंक देना होगा।

सोचते-सोचते कंचनबाबू के दिमाग़ में एक आइडिया कौंध गया। एक विज्ञापन देने का आइडिया। चार-पांच ड्राफ्ट बना-बनाकर फाड़ देने के बाद विज्ञापन का संक्षिप्त मसौदा आखिर बना ही लिया और भेज दिया वर्गीकृत विज्ञापन के विशेष सप्लीमेंट में छपने के लिए। विज्ञापन यों था—

<u>वर्गीकृत विज्ञापन</u>

कंपेनियन चाहिए

एक सत्तर वर्षीय स्वस्थ, समृद्ध और युवा जैसी ऊर्जा वाले विधुर के लिए 5-10 बरस छोटी उम्र की कंपेनियन चाहिए। कंपेनियन के कांट्रेक्ट अवधि तक पालन-पोषण का भार पुरुष-कंपेनियन पर रहेगा। जाति-धर्म का बंधन नहीं। विधवा या परित्यक्ता को प्राथमिकता होगी। बड़ी उम्र की अविवाहिता पर भी विचार किया जाएगा। संपर्क करें—

पता.......................... फोन नं...........................

.... मोबाइल नं......................

विज्ञापन का छपना भर था कि फोन की घंटी का संगीत दिन-रात गूंजने लगा। बायोडाटा और फोटो सहित पत्र आने लगे। पारिवारिक पृष्ठभूमि और चरित्र-चित्रण से युक्त परिचयों का तांता लग गया। कंचनबाबू रोज़ बायोडाटा और फोटो लेकर बैठते, छांटते और फिर सोचते किसे चुनें, किसे नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं कि कोई मुझे धोखा देकर मेरी संपत्ति हड़पने के लिए यह सब कर रहा हो। फोन पर फोन, डाक का अंबार, अब परेशान से हो गए कंचनबाबू! नाहक ही विज्ञापन दिया, इससे तो बेहतर होता अपने किसी रिश्तेदार या दोस्त से कह दिया होता। शायद वह कंपेनियन तलाशने में मदद कर देता।

उधर एक बड़ी कंपनी में ऊंचे पे-पैकेज पर काम कर रहे बेटे का धमकी-भरा फोन आ धमका। विज्ञापन पढ़ते ही विवाहिता बेटी ने फटाफट फटकार का फोन खड़खड़ा दिया—आखिर क्या सूझी आपको इस उम्र में यह नाटक करने की? अपनी और अपने परिवार की प्रतिष्ठा का थोड़ा तो ख़्याल रखा होता—नाको दम था।

कंचन बाबू अपने आप ही शर्म से लाल हुए जा रहे थे। रिश्तेदारों और दोस्तों ने मज़ाक उड़ाना शुरू कर दिया। अड़ोसी-पड़ोसी उन्हें शक की नज़र से देखने लगे। आस-पास की बस्ती की कई विधवाएं और परित्यक्ताएं उनमें अपना दूल्हा खोजने लगीं। कंचन बाबू ने कंपेनियन के बारे में सोचा क्या, ऐसा लगा जैसे कोई सामाजिक अपराध कर दिया हो। अब करें भी तो क्या! सोचने लगे अच्छा हो कि दूसरा विज्ञापन देकर पहले विज्ञापन पर खेद प्रकट कर दिया जाए और लिख दिया जाए कि उस विज्ञापन को निरस्त माना जाए। लेकिन यह तो अपने आइडिया की हार होगी। उधर जिन महिलाओं ने बायोडाटा और फोटो भेजे हैं, वे खफ़ा हो जाएंगी! उनमें से शायद कोई महिला थाने में रिपोर्ट कर मुकदमा ही दायर कर दे। बुरे फंसे! सोच-सोचकर बेहाल!

फिर अचानक उत्तेजित हो गए। सब तो स्साले मज़ा कर रहे हैं। घर-बार, गृहस्थी लेकर इस कदर अपने में मगन हैं कि इस अकेले बूढ़े की फिक्र ही किसे है? कौन होते हैं ये रिश्तेदार, दोस्त, अड़ोसी-पड़ोसी—हंसने या मज़ाक उड़ाने वाले? क्या रिश्तेदारों, दोस्तों, पड़ोसियों का काम सिर्फ़ मज़ाक उड़ाना ही है, किसी के अकेलेपन में शामिल होना नहीं? बेटे-बेटी बड़े लोग हो गए। बड़े पद, बड़े पे-पैकेज, बड़े बंगले, बड़ी गाड़ी! आखिर मैं किस बात में छोटा हूं? उम्र से बड़ा, अनुभव से बड़ा, ज़मीन-जायदाद से बड़ा और पैसे की भी कोई कमी नहीं। क्यों सुनूं उन सबकी बातें! जो मेरी मरज़ी होगी, वही करूंगा। वे जवानी में इश्क करके किसी से भी शादी कर लें, घर बसा लें, मज़ा करें और मैं उजड़ा-उजड़ा अकेला पड़ा रहूं—या तो पत्नी

की याद में रोता रहूं या बेटी-बेटे के कभी-कभी आने का इंतज़ार करता रहूं। हिश्ट, अब यह सब नहीं होगा। ज़रूर लाऊंगा, एक कंपेनियन। ज़्यादा शोर-शराबा किया तो उससे शादी करके कर दूंगा सारी प्रॉपर्टी उसके नाम! टापते रह जाएंगे वे सब, जो मुझे पागल करार दे रहे हैं, मेरे बुढ़ापे का मज़ाक बना रहे हैं।

इस तरह अकेले में देर तक बड़बड़ाते रहे कंचन बाबू!

इस बीच दरवाज़े की घंटी बजी! चौकीदार ने ख़बर दी कि कोई साहब आए हैं आपसे मिलने। साहब के साथ एक 50-55 बरस की महिला और एक युवती थी। गौर वर्ण, लंबाई भी ठीक। पके हुए बाल, हेयर डायर से काले किए हुए। होठों पर भी गुलाबीपन पुता हुआ। चेहरे को भी चमका रखा था। लगता था किसी ब्यूटी पॉर्लर से सीधी यहां आ गई है।

साहब ने अंदर नमस्कार के साथ प्रवेश किया। बैठे, एक-दूसरे को निहारते रहे। साहब ने पूछा, "सर! आप ही हैं न कंचन बाबू?"

"जी हां।"

"वह विज्ञापन आपने ही दिया था न?"

"जी हां!"

"मैंने दीदी का बायोडाटा और फोटो भेजा था, मिले होंगे?"

"जी, मिल गए। देख भी लिए!"

"कोई जवाब नहीं दिया आपने?"

"क्या जवाब देता! बहुत सारे जवाब देने हैं!"

"क्या और कोई भी ऑफर हैं?"

"ऑफर का क्या? आदमी के पास दौलत हो तो ऑफर ही ऑफर!"

"तो आप क्या यह सोचते हैं कि हम दौलत की ख़ातिर आए हैं?"

"हो सकता है, नहीं भी।"

"क्या आप कंपेनियन रखने के बारे में सीरियस हैं?"

"सीरियस न होता तो विज्ञापन क्यों देता!"

"तो अब क्या ख़्याल है आपका? आप चाहें तो दीदी से अलग से बातें कर लें, मैं बाहर चला जाता हूं!"

"ऐसा क्यों! जो भी बात करूंगा, आपके सामने ही करूंगा!"

"जैसी आपकी मरज़ी!"

"अब मैं आप दोनों से बात करता हूं! आपकी दीदी अविवाहिता हैं, परित्यक्ता या विधवा?"

"अविवाहिता।"

"पचास से ऊपर उम्र हो जाने पर भी अविवाहिता?"

"रिश्ते तो कई आए थे साहब! लेकिन दीदी ने हम लोगों की ख़ातिर कबूले नहीं। दीदी अब पचास से ऊपर हैं।"

"आप लोगों की ख़ातिर?"

"जी हां! पिताजी बचपन में चल बसे, दीदी सबसे बड़ी थीं! नौकरी करने लगी थीं। हम तीन भाई-बहन थे। एक बहन को पढ़ा-लिखाकर उसकी शादी कर दी। मुझे पढ़ा-लिखाकर अफ़सर बना दिया, मुझे अपनी मरज़ी से शादी करने की इज़ाज़त भी दे दी। अब हमारा भी दीदी के लिए कुछ फर्ज़ बनता है न!"

"आपको अपना फर्ज़ दीदी की पचास बरस की उम्र के बाद ही क्यों याद आया?"

"हम तो दीदी को मनाते-मनाते थक गए। आपका विज्ञापन देखकर हमने उसे दीदी के सामने रख दिया। दीदी ने विज्ञापन गौर से देखा, बार-बार पढ़ा। फिर एकदम बोली, 'चलो, चलकर सीधी बात करते हैं। दीदी ही मुझे लेकर आईं'।"

"मतलब यह कि तुम दोनों भाई-बहन के कहने की बजाय दीदी ने अपने लिए भी खुद ही निर्णय लिया? है न!"

"जी!"

"कहीं ऐसा तो नहीं कि अब आप दीदी से ऊब चले हों और पिंड छुड़ाना चाहते हों?"

दीदी बीच में ही बोल पड़ीं, "अरे साहब! इतनी सारी तफ़तीश करने की क्या ज़रूरत? खुद चलकर आई हूं। लोक-लाज के कारण भाई साथ है। बताइए, आप क्या चाहते हैं?"

"जो चाहता था वह विज्ञापन में लिख तो दिया। कंपेनियन रखूंगा, पत्नी नहीं बनाऊंगा। प्रॉपर्टी में कोई हिस्सा नहीं दूंगा। जब चाहूंगा, कंपेनियनशिप का कांट्रेक्ट खत्म कर दूंगा। बोलो मंजूर है?"

"जी मुझे तो सब मंजूर। अब दोनों भाई-बहनों की भी राय ले ली जाए!"

"क्यों इनकी राय क्यों? खुद की मरज़ी से आई हो, ख़ुद ही निर्णय लो।"

"एकदम तो कुछ नहीं कह सकती! थोड़ा सोचने का मौका दीजिए!"

"अच्छा जाइए, सोचिए!"

वे जाने लगे, "अरे-अरे ठहरिए! कुछ चाय-पानी तो हो जाए!"

"नहीं साहब, फिर कभी!"

"ठीक है!"

दीदी, साहब और छोटी बहन चले गए। कंचन बाबू ने सोचा अब दूसरा विज्ञापन दे दिया जाए। उन्होंने कई ड्राफ्ट बनाए, फाड़ दिए। अंत में एक ड्राफ्ट ठीक लगा—

> **<u>वर्गीकृत विज्ञापन</u>**
>
> **वधू चाहिए**
>
> सत्तर वर्षीय स्वस्थ सुंदर युवा के लिए वधू चाहिए। अविवाहित न हो, परित्यक्ता या विधवा चलेगी। उम्र 35 से 40 बरस की हो! स्वयं कोई नौकरी न करती हो! पूरे समय घर में ही रहकर एक अकेले व्यक्ति की गृहस्थी संभालनी होगी। कोई संतान साथ न लाए। संतान अगर है तो उसकी ज़िम्मेदारी वर की नहीं होगी। प्रॉपर्टी पर बातचीत आमने-सामने होगी। बायोडाटा या फोटो न भेजें, फोन भी न करें। स्वयं मिलें। साथ कोई रिश्तेदार या दोस्त, पड़ोसी न हो। मिलने का समय सुबह नौ बजे से दोपहर एक बजे तक, शाम पांच बजे से आठ बजे तक। जाति-धर्म का कोई बंधन नहीं।
>
> पता........................ फोन नं..........................
>
> मोबाइल नं.....................

अखबारों में शादी का परिशिष्ट पढ़ने वालों ने विज्ञापन पढ़ा। जिन घरों में विधवाएं और परित्यक्ताएं थीं, वहां बहस चल पड़ी। क्या सूझा इस बुड्ढे को। पहले कंपेनियन का विज्ञापन दिया था, अब शादी पर उतर आया। कहीं हम जैसी औरतों का इमोशनल एक्स्प्लायटेशन तो नहीं कर रहा है! पता लगाना पड़ेगा कि आदमी सनकी तो नहीं है, विश्वसनीय और सीरियस भी है या नहीं! बेटे-बेटी ने सोचा—पागल हैं पापा। पचास-पचपन की कंपेनियन, अब 35-40 की युवती। क्या हो गया इस बुढ़ापे में इनको?

इधर कई परित्यक्ताओं ने सोचा कि इस बुड्ढे से क्या पटेगी? जब जवान खाविंद से ही नहीं पटी तो इस आदमी का बुढ़ापा कैसे ढोएंगी?

विधवाओं में से एक ने सोचा, उनको गए कितने बरस बीत गए? इतने साल उनकी याद में गुज़ार दिए। अब उनको भूलकर यह नया आदमी क्यों? मगर करें

भी क्या? विधवा का तो जीना भी मुश्किल! फिर आमदनी का ज़रिया भी तो नहीं। मायके वालों पर जाकर बोझ बनी नहीं। ससुराल वालों ने रखा तो सही मगर बेटे की बहू की बजाय नौकरानी बनाकर। वे भरी जवानी में चले गए, मैं भरी जवानी में उन्हें खो बैठी। ससुराल वालों से कह भी तो नहीं सकती। अगर वे सोचें, मायके वाले भी मान जाएं, तो थोड़ा मैं भी सोच सकती हूं। नौकरानी की ज़िंदगी जीते-जीते इतनी नौकरानी हो गई हूं कि पत्नी, बहू, बेटी, मालकिन सारे रिश्तों का ख़्याल तक ही खो गया है। उसने अख़बार को बार-बार पलटा, बार-बार पढ़ा। उसे विज्ञापन बार-बार अच्छा लग रहा था। पंखे की हवा में अख़बार फड़फड़ाने लगता था—ठीक वैसे ही उसका भी दिल फड़फड़ाने लगा। उसने सोचा, अपने बारे में दूसरा कोई क्यों सोचे? खुद ही सोचना होगा।

दूसरे दिन सुबह होते ही वह घर में कुछ बताए बगैर चल पड़ी। बाहर निकल कर रिक्शा लिया और ठीक नौ बजे कंचन बाबू के घर में घंटी टनटना दी। विज्ञापन के ठीक दूसरे दिन एक अधेड़ महिला को देखकर क्षण भर को वे चौंके। फिर धीरे से बोले— "आइए! तशरीफ लाइए।"

बैठक के कमरे में दोनों आमने-सामने बैठ गए। एक-दो मिनट दोनों ही कुछ न बोले! फिर कंचन बाबू ने मौन तोड़ा और पूछा—

"कहीं आप विज्ञापन देखकर तो नहीं आई हैं?"

"जी! देखकर ही आई हूं।"

"ठीक है, तो आप अपने बारे में कुछ कहेंगी?"

"कहने को क्या है! विधवा हूं। पंद्रह बरस हो गए, पति को गए। तब मैं करीब बाइस साल की थी। एम.ए. करके नौकरी करने लगी थी। पति ने छुड़वा दी थी। इधर नौकरी छोड़ी उधर दो-एक साल ही गुज़रे होंगे कि एक एक्सीडेंट में वे भी गुज़र गए!"

"एक्सीडेंट! कैसा एक्सीडेंट!"

"जी! वे कार से दौरे पर जा रहे थे। रास्ते में एक ट्रक ने टक्कर मार दी!"

"तो फिर बचाया न जा सका?"

"क्या बचाते! स्पॉट पर ही डेथ हो गई थी।"

"तब से...?"

"हां, तब से अपनी ससुराल में रहती हूं। मायके वाले ले गए थे। कुछ दिन रही, फिर मैंने सोचा पति नहीं तो क्या हुआ, पति का घर तो है। मगर मौन के बाद

की सहानुभूति थोड़े ही दिन की होती है। ससुराल में बहू बनकर आई थी, नौकरानी बनकर रह रही हूं।"

"पति के घर में कौन-कौन हैं?"

"दो बड़े भाई हैं—एक इसी शहर में नगर-निगम में अफ़सर हैं, दूसरा रेलवे में बाहर है। सबसे बड़े भाई और सास-ससुर के साथ रहती हूं! बड़े जेठजी की दो लड़कियां हैं। दोनों पढ़ती हैं। अच्छी हैं!"

"और सास-ससुर?"

"दोनों हैं। ससुर रिटायर हो गए हैं! वे भी बड़े अफ़सर थे! सास दमे की मरीज़ हैं।"

"क्या वे तैयार हैं?"

"उनके तैयार होने न होने से क्या मतलब, जिसे तैयार होना है वह तो तैयार है न।"

"अगर वे तैयार न हुए तो...?"

"मैंने कहा न! निर्णय मुझे लेना है। जब मैं तैयार हूं तो फिर...?"

"काफ़ी खुले विचार की हो! ठीक लगा आपकी बातें सुनकर।"

"बोल्ड तो होना ही होता है, ऐसे निर्णय लेने के लिए—अभी तक बोल्ड नहीं हो पाई थी, इसलिए न बहू रही, न बेटी!"

"अच्छा किया आपने यह सब बता दिया, मेरे बारे में कुछ नहीं पूछेंगी?"

"क्या पूछूं! जानती हूं आप सत्तर साल के हैं। आपका दिल जवान है क्योंकि आपने अपने बारे में यही लिखा है। प्रॉपर्टी के बारे में बातचीत करने को कहा था—देख लिया, इतना बड़ा मकान है, गाड़ी है, नौकर-चाकर हैं—एक और आदमी का पेट पालने लायक भी आपकी कमाई होगी ही!"

"मान लो! अगर यह सब होने के बावजूद मैं भी जल्दी मर गया तो?"

"आप मरने की बात क्यों करते हैं? आप जीने के लिए शादी करना चाहते हैं या मरने के लिए? मरना तो हर किसी को है। हो सकता है कि मैं ही पहले मर जाऊं। वैसे भी मरी हुई से क्या कम हूं?"

"अगर आप बुरा न मानें तो इतना बता दूं—पत्नी को गए दस साल हो गए, लड़का एक कंपनी में बड़ा अफ़सर है, लड़की भी बड़े घर में गई है। खुद प्रोफेसर रहा हूं। दामाद भी बड़ा अफ़सर है। दोनों बाहर हैं। आते-जाते हैं—साल में एक-दो बार! मेरी देखभाल कुछ मैं करता हूं, कुछ मेरा एक साथी है, वह!"

"ठीक है, अब आप क्या सोच रहे हैं? क्या दरअसल किसी विधवा से शादी करेंगे या फिर कोई परित्यक्ता से...या यों ही मजे के लिए विज्ञापन दे दिया!"

"सोचकर बताऊंगा!"

"क्या सोचेंगे? यही न कि कहीं बच्चे इंकार न कर दें। कहीं उनका प्रॉपर्टी का हक न मारा जाए! कहीं लोग आपका इस उम्र में शादी की तमन्ना पर मज़ाक न उड़ाएं, रिश्तेदार नाराज़ न हो जाएं! यही सब न!"

"ठीक कहती हो। लेकिन यह सब तो मैं पहले ही सोच चुका हूं। आपके पति को गए पंद्रह साल हो गए—तब आप 22 साल की थीं। मतलब अब करीब सैंतीस साल की हैं। मैं सत्तर पार कर गया। करीब आपसे दोगुना बड़ा हूं। चलेगा न?"

"न चलता, तो आती क्यों?"

"आप सबसे पहले आई हो! आपका नेचर भी ठीक लगा—लेकिन और लोगों ने भी तो विज्ञापन पढ़ा होगा!"

"आपका मतलब है—अभी आप अन्य ऑफर पर भी विचार करेंगे?"

"हो सकता है, ऐसा करूं! वैसे आप मुझे ठीक लगी हैं, मगर निर्णय लेने में थोड़ा तो वक्त लगेगा ही न!"

"मैंने तो कोई वक्त नहीं लिया!"

"आप अभी काफी युवा हैं। मुझसे बहुत ज़्यादा युवा!"

"इसका मतलब तो यह हुआ कि आप अपने ही विज्ञापन से डरे हुए हैं!"

"डर की क्या बात! सोचने के लिए वक्त तो चाहिए न!"

"अच्छा तो आप सोचिए! मैं चलती हूं।"

वह उठकर चल दी। कंचन बाबू ताक़ते ही रह गए!

वह रिक्शा में बैठी और ओझल हो गई।

दरवाज़े की घंटी फिर बजी। कंचन बाबू ने सोचा कहीं वही फिर तो नहीं आ गई? हो सकता है कोई दूसरा उम्मीदवार हो! घंटी फिर जोर से बजी।

कंचन बाबू देखते हैं—बेटा, बहू और बच्चे हैं, साथ में बहन भी आई है। शायद दोनों भाई-बहन तय करके आए हैं!

"अरे वाह! एकदम सरप्राइज। चलो, चलो अंदर आओ!"

सबने पैर छुए। बैठक में ही सब एक साथ बैठ गए।

"न कोई फोन, न सूचना। कैसे आ गए अचानक!"

"बाबूजी बाद में बात कर लेंगे। पहले फ्रैश हो जाएं—नाश्ता वगैरा कर लें, फिर आराम से बातें करेंगे! हम दो-चार दिन साथ रहेंगे।"

"अच्छा बेटा! तुम्हारा ही तो घर है! जब तक चाहो रहो!"

सब तैयार होकर फिर बैठक में आ गए। कोई कुछ न बोला। फिर बच्चों की बात हुई, पढ़ाई के हाल-चाल पूछे गए। काम-काज कैसा चल रहा है, पूछा गया। उन लोगों ने भी पूछा आप कैसे हैं? दिनभर कैसे कटता है?

शाम को आराम करने के बाद फिर सब बैठे। लड़की बोली, "बाबूजी आपने बड़ा अच्छा निर्णय लिया। चलिए कर लीजिए शादी! आपका सूनापन तो दूर होगा। निर्मला दीदी बहुत अच्छी हैं। उनसे मिलते हुए हम आए हैं। हम घर पहुंचे तो वे थीं नहीं। उनके सास-ससुर ने बताया कि वे बिना बताए सुबह घर से बाहर चली गई हैं। थोड़ी देर में निर्मला दीदी भी आ गईं। उनसे सब कुछ पता चल गया! उन्होंने फोन पर हम सबसे चर्चा कर ली थी।"

"अच्छा तो आप सब इस बूढ़े की शादी की तैयारी के लिए आए हैं। दुल्हन भी देखकर पसंद कर आए हैं। अब यह बताओ कि जब विज्ञापन मेरा है, निर्णय भी मुझे ही करना है, फिर तुम दाल-भात में मूसलचंद क्यों?"

"तो क्या हमारा कोई फर्ज़ नहीं?"

"फर्ज़ की बात होती तो बेटा शादी की बात मन में पैदा ही नहीं होती! फर्ज़ जैसा शब्द तो अब परिवारों के कोश से ग़ायब ही हो गया है!"

"तो क्या बेटा-बेटी, मां-बाप के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते?"

"सोच सकते हैं, ज़रूर सोच सकते हैं। दस साल में तो बहुत कुछ सोचा जा सकता था। ख़ैर, अब आए हो इस काम के लिए तो कर ही डालो। जाओ, निर्मलाजी से जाकर कह दो, बाबूजी तैयार हैं। कार्ड छपवाओ, बंटवाओ, मुझे दुल्हा बनाओ और बड़ी शान से मेरी बारात निकालो! लो तुम्हारा दूल्हा बाप तैयार है।"

सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगे! कंचन बाबू रात को चारपाई पर पड़े-पड़े और विज्ञापन का मसौदा मन में बनाने लगे। उन्होंने विज्ञापन तैयार किया—सुबह उठकर बिना बताए अख़बार में दे आए। विज्ञापन छपा—

> **<u>वर्गीकृत विज्ञापन</u>**
>
> **वधू चाहिए**
>
> एक वधू चाहिए। तीस-चालीस बरस की। शादी तुरंत की जाएगी। इसके पूर्व के सारे विज्ञापन अब निरस्त किए जाते हैं। क्यों किया मैंने ऐसा, यह जानने के लिए संपर्क करें।
>
> पता.........................   फोन नं.........................
>
> ....   मोबाइल नं......................

बच्चों ने पूछा, "पापा यह विज्ञापन कैसा? एक बार दे तो चुके थे?"

"वह अपना पूरन सिंह है न। उसकी औरत मर गई है। एक-दो वरस की अकेली बच्ची छोड़ गई है। बेचारा पहाड़ से अनाथ आया था, अब फिर लाचार हो गया। बेचारा बहुत परेशान है। पढ़-लिखकर अच्छी नौकरी पर लग गया है। उसकी शादी करवा रहा हूं।"

"उसकी शादी से आपको क्या फायदा?"

"फायदा है! अभी तक वह अकेला मेरी सेवा करता था, अब दोनों मियां-बीवी करेंगे। मर गया तो वक्त पर अंत्येष्टि भी कर देंगे।"

"इसका मतलब एक नौकर तो आपका वारिस होगा और हम कुछ नहीं।"

"कुछ कैसे नहीं! तुम तो खुद ही बहुत कुछ हो। जो कुछ नहीं है, उसके लिए ही तो यह सब कुछ कर रहा हूं।"

"एक नौकर के लिए इतना बड़ा निर्णय!"

"उसे नौकर मत कहो। वह तो बेटे से भी ज़्यादा है।"

"ठीक है! आपकी मरज़ी है, जो चाहे करें, हमें क्या?"

"ठीक कहते हो, तुम्हें क्या!"

दूसरे दिन सुबह, उदास भाव से बेटा-बेटी जागे और चले गए।

कंचन बाबू के विज्ञापन पर इस बार कोई ऑफर नहीं आया। वे निर्मला के यहां खुद ही जा पहुंचे।

निर्मला उन्हें देखकर दंग, "बोली अरे बाबूजी आप! आज ही तो आपका एक और विज्ञापन पढ़ा। यह क्या किया आपने? क्यों किया ऐसा?"

"गलत मत समझो मुझे। जान-बूझकर किया है, अब तुमसे रिश्ता मांगने आया हूं।"

"मैं तो पहले ही तैयार थी!"

"नहीं, नहीं बेटी, वह रिश्ता नहीं। मेरा एक बेटा है उसके लिए!"

"अरे वे तो शादीशुदा हैं न!"

"नहीं, एक और बेटा है।"

"बाबूजी आप हमारे सास-ससुर से बात कर लीजिए...।"

"निर्णय तो तुम्हारा है न, उनकों तो हां भर करनी है।"

"ठीक है, बाबूजी।"

निर्मला और पूरन सिंह की शादी हो गई। कुछ माह बहुत अच्छे खुशी-खुशी बीते। दोनों कंचनप्रसाद बाबू का खूब ख़्याल रखते।

एक दिन कंचनप्रसाद बाबू को जोर का हार्ट अटैक आया। दूसरे दिन एक विज्ञापन छपा—

<u>**विज्ञापन**</u>

निजी

कंचनप्रसाद बाबू, रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर का दिल का दौरा पड़ने से सत्तर वर्ष की आयु में देहांत हो गया। उनकी शवयात्रा कल सुबह नौ बजे कंचन निवास से निकलेगी।

शोकाकुल :
निर्मला-पूरनसिंह
कंचन निवास,
कंचन मार्ग, भोपाल।

लाइब्रेरी

"सर! क्या आज मुझे टॉयनबी के इतिहास की किताब मिल जाएगी?"

"मिल जाती, मगर अभी-अभी तुम्हारे प्रोफेसर उसे इश्यू करा ले गए हैं!"

"ठीक है सर! मुझे सुंदरलाल का 'भारत में अंग्रेज़ी राज़' ही दे दीजिए।"

"अंग्रेज़ों का राज़ अब है कहां, जो अंग्रेज़ी राज़ की किताब मांग रहे हो।" लाइब्रेरियन ने व्यंग्यभरी मुस्कान के साथ कहा।

"कोई बात नहीं सर!" वह निराश-सा लौट रहा था। पीछे से आवाज़ आई। वह रुक गया। देखा तो सामने खड़े थे उसके प्रोफेसर। पूछा, "तुम 'सुंदरलाल का अंग्रेज़ी राज़' क्यों पढ़ना चाहते हो?"

"सर! मैंने सुना है उन्होंने खुद अंग्रेज़ी लेखकों के उद्धरण दे-देकर भारत में अंग्रेज़ी राज़ की पोल खोली है।"

"ठीक सुना तुमने। जानते हो इस किताब को अंग्रेज़ों ने बैन कर दिया था?"

"हां सर! यह भी सुना था! क्या आपके पास है वह किताब?"

"हां है, दो वाल्यूम हैं, मैं वैसे किताब देता नहीं, मगर तुम चाहो तो घर आकर पढ़ सकते हो!"

"यह तो मुश्किल होगा सर! खैर, 'भारत में अंग्रेज़ी राज़' को लेकर कोई और किताब पढ़ लूंगा। वैसे मैंने अभी-अभी धर्मपाल की एक किताब पढ़ी है, जिसका नाम है 'द ब्यूटीफुल ट्री'। यह भारतीय शिक्षा पर है। बड़ी गज़ब की किताब है सर!"

"अरे यह किताब कहां से मिल गई तुम्हें। मैं तो इसे खोज ही रहा था।"

"गए साल पुस्तक मेला लगा था न सर, वहीं से मैंने यह किताब खरीद ली थी।"

"तब तो कुछ दिन के लिए मुझे भी पढ़ने को दे देना!"

"ज़रूर, ज़रूर सर! मैं पढ़ चुका हूं। आज ही शाम को दे दूंगा।"

शाम को वह किताब लेकर प्रोफेसर के घर पहुंचा।

उधर प्रोफेसर को लगा कि लड़के को मैंने तो किताब देने से मना कर दिया, मगर वह वायदे के मुताबिक किताब ले आया! कितना फ़र्क है एक प्रोफेसर और एक विद्यार्थी की सोच के बीच! वे उठे, रैक से सुंदरलाल की किताब का प्रथम भाग निकाला और उसे देते हुए कहा, "देखना, संभालकर पढ़ना। कमज़ोर जिल्द है, किताब पुरानी है, फटे नहीं और पढ़कर वापस कर देना। एक सप्ताह का वक़्त देता हूं तुम्हें!"

"सर! यह वक्त तो बहुत कम है। एम.ए. फाइनल के साथ मैं आई.ए.एस. की तैयारी इतिहास विषय को लेकर ही कर रहा हूं। नोट्स लेने में वक़्त लगेगा। क्या आप एक महीने के लिए नहीं दे पाएंगे?"

"दे देता, मगर मेरा बेटा भी तैयारी कर रहा है, कहीं उसे ज़रूरत पड़ गई तो?"

"ठीक है सर! एक सप्ताह में ही पढ़ने की कोशिश करूंगा।"

घर आकर वह किताब में खो गया! उसे लगा कैसे गुज़ारे होंगे अंग्रेज़ी राज़ के वे डेढ़ सौ बरस उन लोगों ने जो उनकी हुकूमत झेलते रहे, ज़ुल्म सहते रहे, लूटपाट झेलते रहे। वाह सुंदरलाल! क्या किताब लिख दी आपने!

उसके सामने अब इतिहास ही इतिहास हर वक्त नाचता रहता। उसने वादे के मुताबिक किताब लौटा दी। दूसरा वाल्यूम लिया, उसे भी पढ़ डाला। फिर उस पर ऐसा जुनून चढ़ा कि कॉलेज लाइब्रेरी से एक के बाद एक किताब लाता रहा और भारत में अंग्रेज़ी राज, भारत की आज़ादी, भारत का संघर्ष, सब कुछ पढ़ता रहा! उसे लगा—इतिहास ही सही होता है। इतिहास हमें क्या-क्या बता देता है! अच्छा किया उसने इतिहास विषय चुना!

कुछ दिन बाद उसे लगा कि सिर्फ़ अंग्रेज़ी राज़ का इतिहास ही क्यों पढ़ा जाए, क्यों न लाइब्रेरी जाकर भारत का प्राचीन इतिहास पढ़ा जाए, मध्यकाल और मुगलों का इतिहास पढ़ा जाए?

लाइब्रेरी जाकर उसने लाइब्रेरियन से पूछा, "भारत के प्राचीन इतिहास पर किताबें हैं क्या?"

"हां, हैं तो ज़रूर! आप केटलॉग देख लीजिए।"

उसने केटलॉग देखा और पहुंच गया उस जगह जहां प्राचीन इतिहास अपनी प्राचीनता के साथ डटा हुआ था। किताबों पर धूल चढ़ी हुई थी। लगता था कई वर्षों से किताबों को किसी ने छुआ तक नहीं था। उसने एक किताब निकाली जो अपने पुरानेपन के साथ अलमारी की दीवार से चिपक-सी गई थी। किताब जैसे ही खींची वह चीखती हुई चर्र से बाहर आ गई। किताब की जगह जिल्द का ऊपरी कवर हाथ में आ गया।

उसने धीरे-धीरे किताब को निकाला। लाइब्रेरियन के पास पहुंचा और कहा, "सर! किताब अलमारी में चिपक गई थी। बड़ी मुश्किल से निकाल पाया। निकालते वक्त यह ऊपर का कवर अलग हो गया!"

"मतलब कि तुमने किताब को फाड़ डाला। जानते हो यह रेअर बुक है। इसे तो हम इश्यू भी नहीं करते! संदर्भ के काम आती है। तुमने अलमारी पर पढ़ा नहीं, 'संदर्भ'! अब यह पुस्तक उपलब्ध भी नहीं है!"

"सर! मैं इसकी पुनः जिल्द बंधवा दूंगा। ठीक करवाकर दे दूंगा।"

"क्या खाक ठीक करवा दोगे! इतनी पुरानी किताब, देखो न पन्ना-पन्ना गल रहा है। इसकी नयी जिल्द क्या बनेगी?"

"सर! अब तो नया जमाना है। मैं इसकी मायक्रोफिल्म बनवाकर दे दूंगा! आप किताब मुझे दो-चार दिन के लिए ही दे दीजिएगा!"

"कहा न! यह संदर्भ-पुस्तक है, इश्यू नहीं हो सकती।"

"फिर इसे ठीक कैसे करवाऊंगा?"

"वह हम करवाएंगे! तुम्हें जुर्माना भरना पड़ेगा!"

"कितना सर?"

"यही करीब दो-एक सौ रुपये!"

"ठीक है, सर! यह लीजिए दो सौ रुपये! रसीद दे दीजिए।"

"रसीद किस बात की! यह काम तो अनऑफिशली करवाना होगा। कहीं प्रिंसिपल साहब को मालूम हो गया तो वे मेरी जान ही ले लेंगे। जानते हो वे खुद प्राचीन इतिहास के पी-एच.डी. हैं। प्राचीन इतिहास उनका प्रिय विषय है।"

"समझ गया सर! प्राचीन इतिहास के एक्सपर्ट ज़रूर होंगे, तभी तो किताबों को प्राचीन करने में लगे हुए हैं।"

"क्या मतलब?" लाइब्रेरियन जोर से झल्लाया, "तुम्हें क्या पता, प्राचीन किताबें कितनी महत्वपूर्ण होती हैं। उन्हें कितना संभालना पड़ता है। एक लाइब्रेरियन के लिए यह सबसे बड़े गर्व की बात होती है कि उसके पास ज़्यादा से ज़्यादा प्राचीन पुस्तकों का ज़खीरा हो!"

हां, सर! लाइब्रेरी देखकर लगता है--यहां किताबों को प्राचीन करने का हुनर मौजूद है। आप और प्रिंसिपल साहब सचमुच प्राचीनता के पुजारी हैं। इतिहास की अलमारी देखकर इतिहास की प्राचीनता का भी अहसास हुआ! (वह मन ही मन बुदबुदाया।)

"तुम जैसे नये लौंडे, प्राचीनता का महत्त्व क्या जानो! तुम तो किताबें भी दिखावे के लिए लेते हो! पढ़ते भी हो या नहीं ये किताबें?"

"सर! किताबें तो पढ़ने के लिए ही होती हैं न! इसीलिए तो लाइब्रेरी में आता हूं! इतिहास में मेरी रुचि है, इसलिए मैंने सोचा क्यों न भारत के प्राचीन इतिहास से शुरू किया जाए।"

"तुमने सोचा तो ठीक लेकिन जानते हो हम भारतीय अपनी प्राचीन संस्कृति, प्राचीन ज्ञान, प्राचीन इतिहास किसी का भी तो सम्मान नहीं करते! सिर्फ़ थोथा गर्व करते रहते हैं। हमसे तो बेहतर हैं पश्चिम के लोग। उनके पास न केवल उनके देश के बल्कि दुनियाभर के प्राचीन ग्रंथ सुरक्षित मिलेंगे—मैक्समूलर से टायनबी तक!"

"ठीक कहा, सर! आपने भी तो प्राचीन इतिहास की किताबों को कितना सुरक्षित रखा है।"

"ठीक कहते हो! मैं उस अलमारी को किसी को छूने तक नहीं देता! तुम्हारी इतिहास में रुचि देखी तो तुम्हें अलाऊ कर दिया, मगर तुमने किताब को ही उखाड़ फेंका।"

"सर! इसमें मेरा कुसूर कम, अलमारी का ज़्यादा है। उसमें ठंडक के कारण किताब चिपक गई थी। लगता है कई महीनों से किसी ने किताबों को ठीक-ठाक उलटा-पलटा तक नहीं!"

"मैं ऐसा करने देता तब न! अगर अलमारी तुम जैसे पढ़ाकुओं के हवाले कर देता तो क्या एक भी किताब बच पाती। तुम्हें थोड़ी देर के लिए इज़ाज़त दी तो तुमने क्या हाल कर दिया।"

"सर! आपका प्राचीनता के प्रति गौरवभाव देखकर मुझे लगता है—ऐसी लाइब्रेरी और ऐसे लाइब्रेरियन हर जगह होने चाहिएं ताकि किताबों को जल्दी से जल्दी प्राचीन किया जा सके! प्राचीनता पर गर्व तो तभी होगा न जब आपकी लाइब्रेरी की हर किताब एक एक्टीविटी (पुरातन सामग्री) में बदल जाएगी! देखिए न एक पास की अलमारी में आपने केम्ब्रिज हिस्ट्री के वाल्यूम और आर.सी. मजूमदार के वाल्यूम कितने करीने से संजो रखे हैं। लगता है किसी ने आज तक हाथ ही नहीं लगाया। प्राचीन होने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगेगा।"

"तुम कहीं मेरा मज़ाक तो नहीं उड़ा रहे! जानते हो मैं इस लाइब्रेरी को जी-जान से चाहता हूं। 25 बरस से हूं इसमें! मजाल है कि एक भी किताब गायब हो

जाए, फट जाए! पहले वाले लाइब्रेरियन के ज़माने में किताबों की दुर्दशा थी। जब देखो तब किताबें फट जाती थीं। कई किताबों के पन्ने ग़ायब, कई में निशान ही निशान! मैंने ऐसी तमाम किताबों को राइट ऑफ करवा दिया। मैं तो किताबों का पुजारी हूं पुजारी! लाइब्रेरी को तो एक मंदिर मानता हूं, मैं किसी किताब को बिगड़ते, फटते नहीं देख़ सकता। संदर्भ की किताबें तो लाइब्रेरी की शान होती हैं। मैंने सबको जतन से संभाला। इश्यू करने पर भी काफी पाबंदी कर दी ताकि किताबें सुरक्षित रहें।''

लाइब्रेरियन महोदय ने एक लंबा-सा भाषण देकर अंत में कहा, ''जानते हो, यह लाइब्रेरी एक पवित्र मंदिर है मंदिर! मैं इसका पुजारी हूं। ये किताबें मेरे लिए भगवान की तरह हैं। देखना एक दिन यह देश में प्राचीन किताबों की सबसे बड़ी लाइब्रेरी बनकर रहेगी।''

''मैंने कहा न सर! करते रहिए किताबों की पूजा! सच है एक दिन वह ज़रूर आएगा जब आपकी लाइब्रेरी देश की प्राचीनतम लाइब्रेरी कहलाएगी। आपके नाम का शिलालेख होगा! किताबों की प्राचीनता में आपके योगदान की महिमा होगी! मैं चाहता हूं, यह लाइब्रेरी अपनी प्राचीनता का गौरव हासिल करे।''

अगले दिन मंत्रालय से एक पत्र आया। लिखा था, 'इस कॉलेज की लाइब्रेरी में पुस्तकों की प्राचीनता को देखते हुए अब इसे शिक्षा विभाग से हटाकर पुरातत्त्व विभाग को सौंपा जाता है।'

झूठ

नयी दिल्ली   दिनांक...................

पत्र-1

मेरी प्यारी-प्यारी मां और पूज्य-पूज्य पापा

मैं बिलकुल ठीक-ठाक हूं।

प्रणाम के साथ आपका प्यारा बेटा पिट्टू।

पापा अकसर शिकायत करते रहते हैं कि आज के ज़माने में बच्चे चिट्ठी नहीं लिखते, एस.एम.एस. करते हैं जो पल्ले नहीं पड़ता और कई बार वह पढ़ने से चूक भी जाता है। मोबाइल पर फोन करने को पापा फिज़ूलखर्ची कहते हैं। इसलिए पापा का मन रखने के लिए मैंने चिट्ठी लिखना शुरू कर दिया है। पहली चिट्ठी में कुछ भी नहीं लिखा, सिवा संबोधन के और अंत में ठीक-ठाक के साथ प्रणाम करके चिट्ठी बंद।

मेरे इस खाली-खाली से खत को पाकर वे बेहद नाखुश हो जाते और मुझे लंबा-सा खत लिखकर फटकार लगाते। अंत में यह भी लिख देते कि हो सकता है तुम्हें वक्त न मिलता हो, इसलिए तुम छोटी चिट्ठी लिख सकते हो। तुम्हारी मां बहुत फ़िक्र करती रहती है। महीने में कम-से-कम दो बार लिखा ही करो। भले ही यह लिख दो कि तुम ठीक-ठाक हो, चिंता की कोई बात नहीं।

बेटे ने बात गांठ बांध ली और लिखने लगा चिट्ठी इस तरह–

पत्र-2

मेरी बहुत प्यारी मां और पूज्य पापा,

प्रणाम।

में बिलकुल ठीक हूं। फ़िक्र की कोई बात नहीं।

आपका ठीक-ठाक बेटा पिट्टू।

मां पूछती चिट्ठी आई क्या? पापा कहते आई है बड़ी लंबी लिखता है। पढ़कर सुनाने में भी बड़ा वक़्त लगेगा। लब्बे-लुआब यह है कि साहबजादे ठीक-ठाक हैं। फ़िक्र करने की कोई बात नहीं। इस तरह हर चिट्ठी को लंबी बता-बताकर पापा खुद ही खाली जगह भरते रहते और बीमार मां को दिलासा दे-देकर खुद की लिखी लंबी चिट्ठी पढ़कर सुनाया करते।

मां जब-जब पूछती, पिट्टू की चिट्ठी आई। पापा फ़ौरन कह देते कल ही तो इतनी लंबी चिट्ठी सुनाई। रोज़-रोज़ तो इतनी लंबी-लंबी चिट्ठी लिख नहीं सकता न! फिर अब वह फालतू तो है नहीं, नौकरी करता है। आजकल प्राइवेट नौकरी में काम भी बहुत रहता है। अकेला रहता है, बाहर खाना खाता है, अब रोज़-रोज़ ही लिखने का वक़्त निकाले भी तो कैसे?

मां समझ जाती, मगर दूसरे दिन डाकिए के आने का जैसे ही टाइम हुआ कि मां पूछ बैठती, आज आई चिट्ठी? पापा कुछ न कुछ बहाना बनाकर समझा देते।

मां इस तरह रोज़-रोज़ मुझे चिट्ठियों से याद करती रहती। उन्हें लगता, चिट्ठी में ही मैं हूं, मेरा चेहरा है, उनका बेटा चिट्ठी के अक्षर-अक्षर में बैठा है। पापा चिट्ठी पढ़ रहे हैं, मां को लग रहा है पिट्टू बोल रहा है, मां से बातें कर रहा है। पापा चिट्ठी पढ़कर पुनः लिफाफे में रखकर मां के सिरहाने तकिए के नीचे रख देते। मां को लगता पिट्टू सिरहाने बैठकर, मां का सिर दबा रहा है। कितना भोलापन? मां भी क्या चीज़ है? चिट्ठी ही उनके लिए बेटा, चिट्ठी ही प्यार, चिट्ठी ही चिंता, चिट्ठी ही दुआ, आशीर्वाद सब कुछ।

पत्र-3

मेरी बहुत भोली, बहुत प्यारी मां और श्रद्धेय पापा,

इस बार ज़रा देर हो गई। ठीक-ठाक हूं। फ़िक्र न करें,

आपका प्यारा-प्यारा पिट्टू।

डाकिए ने आवाज़ दी। पापा ने लपककर चिट्ठी उठाई। मां कह उठीं, देखो आ गई न चिट्ठी! कितना फ़िकरमंद है मेरा पिट्टू! मां का कितना ख़्याल रखता है! चलो सुनाओ, जल्दी सुनाओ—क्या-क्या लिखा है?

सुनाता हूं, सुनाता हूं। ज़रा अपना चश्मा तो उठा लाऊं! पापा दस मिनट में आए। मां ने पूछा—क्यों इतनी देर क्यों? पापा कहते चश्मा ढूंढता रहा। मिल गया चश्मा, लो सुनो चिट्ठी!

अरे आज तो पिट्टू ने कमाल ही कर दिया। सुनो तो सही लिखता है, मां को देखे कितने महीने हो गए। सोचता हूं, दौड़कर आऊं और मां के गले लिपट

जाऊं। मां की रोज़ याद आती है। खाना खाता हूं तो लगता है सामने होटल वाला वेटर, वेटर न होकर मां है जो मुझे मना-मनाकर खिला रही है। मगर होटल के खाने में मां के हाथ जैसा स्वाद कहां? कहां वह हरे धनिये की चटनी, कहां पकौड़े की कढ़ी, कहां वे गरम-गरम तवे पर से उतरते फुलके। मगर क्या करूं मां, मान लेता हूं कि इस खाने के अंदर भी तुम ही हो। तुम्हारे नाम के साथ खाता हूं, तो लगता है जैसे होटल का खाना पकवान में बदल गया हो।

मां ने बीच में टोका। बस खाने ही खाने के बारे में मां की तारीफ़ के पुल बांध हैं या कुछ और भी लिखा है।

पापा बोले, 'सुनो तो सही, आगे क्या-क्या लिखा है।'

लिखता है, मां की तबीयत को लेकर बड़ा मायूस हो जाता हूं। अच्छी-भली मां को इस बीमारी ने कैसे पकड़ लिया? मैं हूं कि इतनी दूर पड़ा हूं। मन चाहता है मां के कदमों में बैठकर उसकी खूब सेवा करूं। मगर क्या करूं, कैरियर का भी तो सवाल है न! पापा आप भी बहुत थक जाते होंगे। कितना-कितना काम करते हैं आप। अगले महीने से मैं ज़्यादा पैसे भेजूंगा। आप एक नर्स रख लेना, मां की सेवा के साथ आपको भी आराम की ज़रूरत है। संकोच मत करना। मैं जल्दी ही आऊंगा। मां को देखे बिना मुझे भी चैन नहीं आएगा। पापा आप अपना ख़्याल रखें। कैमू भैया को रात में घर पर रोक लिया करें। कुछ ज़्यादा पैसे दे देंगे। आपको भी तो देखभाल की ज़रूरत है न?

बस बहुत लिख गया। मैं ठीक-ठाक हूं।

आपका प्यारा पिट्टू।

इस तरह एक पूरे खाली कागज़ को पापा ने अपनी ज़बान से भर दिया। मेरी हर दो लाइन की चिट्ठी को पापा दो पेज की बना देते और उंड़ेल देते वह सब जो मैंने सोचा तक भी नहीं। कभी-कभी सोचने लगता हूं क्या ऐसे भी होते हैं मां-बाप? बेटी-बेटों की हर बात छुपाने के लिए कितना झूठ खोजना पड़ता है, बोलना पड़ता है? संतान होने का क्या यही है सुख?

मैं कुछ दिन के लिए अपनी कंपनी की तरफ से चीन भेज दिया गया। चीन ने जो विकास के लिए इन्फ्रास्ट्रक्चर बनाया है उसे देखकर कुछ प्रोजेक्ट्स भारत में शुरू करने थे। मुझे भी एक प्रोजेक्ट पर काम करना था। करीब छह महीने चीन में रहना था। वहां से चिट्ठी लिखकर भेजना भी आसान नहीं था। एक तो वक्त की कमी, वक्त मिल भी जाए तो दूर-दूर जाकर चिट्ठी डालो। एस.एम.एस. पापा को पसंद नहीं था, इसलिए मैं मोबाइल पर ही बात कर लेता। जैसे-तैसे पापा मोबाइल रखने की बात मान गए थे।

पापा ने मां को बता दिया कि पिट्टू चीन गया है। मां और ज़्यादा चिंतित हो गई। अरे बाहर के देस में क्या मिलेगा उसे? न अपना खाना, न अपने लोग, कैसे रहेगा पिट्टू वहां? अब चिट्ठी भी लिखेगा तो कैसे?

पापा ने कहा, फ़िक्र मत करो। पिट्टू ने फोन पर कहा है कि वह महीने में एक चिट्ठी ज़रूर लिखेगा। वह एक चिट्ठी दो चिट्ठी के बराबर होगी।

''अरे भगवान! अब क्या इतनी लंबी चिट्ठी के लिए उसे वक्त मिलेगा? फिर वहां डाकखाना कहां ढूंढेगा, कब डालेगा। काम की मार और उधर मेरी फ़िकर। आप लिख दो, बेटा कोई बात नहीं। ज़रूरी नहीं तुम चिट्ठी लिखा करो। बस कभी-कभी पापा को फोन पर अपने हाल-चाल बता दिया करो।

पिट्टू को चीन गए करीब एक महीना हो गया। उसने चिट्ठी लिखी—

पत्र-4

पूज्य पापा और मेरी प्यारी-प्यारी मां,

चीन बड़ा सुंदर है, लोग सुंदर हैं। मुझे कोई तकलीफ नहीं, फ़िक्र न करें।

आपका बहुत प्यारा छोटा-सा पिट्टू।

इस बार एक रंगीन लिफाफे में चीनी डाक टिकट के साथ चिट्ठी आई। पापा ने लपककर उठाई। पढ़कर खुश हुए। चेहरे पर मुस्कान। मां ने देख लिया! क्यों आ गई न चिट्ठी? क्या लिखा है मेरे लाडले ने?

''अरे अभी मुझे पूरी पढ़ने तो दो। क्या-क्या लिख दिया है बच्चू ने। चीन में शंघाई का तो बिलकुल चित्र ही खींच दिया है। चीनी चेहरों की मुस्कान का क्या लाजवाब वर्णन है। चीन में चावल खूब खा रहा है और सब्जियों के तो कितने प्रकार हैं। नूडल्स, मंचूरियन वगैरह तो उसे पहले से ही खूब पसंद हैं। पिज्जा भी मिल जाता है। और सुनो तो सही, कह रहा है कि यहां साउथ इंडियन डिशेज़ भी मिल जाती हैं। एक भारतीय ढाबा भी है जो तंदूरी रोटी और अरहर की दाल फ्राई दे देता है। सारा शंघाई बगीचे की माफ़िक है। कई भारतीय लोग अलग-अलग प्रोजेक्ट पर यहां स्टडी कर रहे हैं।

मां ने बीच में टोका, क्या चीन ही चीन के बारे में सब कुछ लिखा है? अपने बारे में, मेरी तबीयत के बारे में कुछ नहीं लिखा?

कैसे नहीं लिखा! पूरी चिट्ठी पढ़ने तो दो। लिखता है सब कुछ मिलने के बावजूद जब भी खाना खाने बैठता हूं, मां याद आ जाती है। आप दोनों के बारे में सोच-सोचकर लगता है मां थोड़ी ठीक होने लगे तो 10-15 दिन के लिए चीन बुला

लूं। आखिर में लिखता है मां से कहना जल्दी-जल्दी ठीक हो जाएं। मैं हवाई जहाज का टिकट भेज दूगा। आप दोनों आ जाना। देखो न कितना समझदार है मेरा पिट्टू।

मां की आंखों से आंसू फूट पड़े। बस, बस! मत सुनाओ, अब सुनी नहीं जाती। कितना प्यार, कितनी फ़िक्र भर देता है पूरी चिट्ठी में।

अंत में लिखता है, मैं बिलकुल ठीक-ठाक हूं। फ़िक्र मत करना।

आपका प्यारा-प्यारा पिट्टू।

मां धीरे-धीरे ठीक हो रही है। पिट्टू के आने की प्रतीक्षा में है। कहती है कब बीमारी से छूटूं और उठकर पिट्टू के लिए तरह-तरह की चीज़ें बनाऊं! पिट्टू को कितना शौक है खाने का। डॉक्टर का कहना है थोड़ा-थोड़ा इन्हें ताज़ी हवा में घुमाइए। अब टाइफाइड भी खत्म हो गया है, बुखार भी नहीं है और निमोनिया के कारण जो फेफड़ों में जकड़न थी, वह भी ठीक हो गई है।

पिट्टू का प्रोजेक्ट जल्दी ही खत्म हो गया। वह छह महीने के बदले पांच महीने में ही प्रोजेक्ट पूरा करके आ गया। कंपनी ने खुश होकर उसे एक माह की छुट्टी दे दी और कह दिया कि वह चाहे तो घूमने जाए या घर जाना चाहे तो घर चला जाए।

पिट्टू बगैर बताए घर के लिए चल पड़ा। हवाई जहाज से नयी दिल्ली पहुंचा। टैक्सी करके सुबह सवेरे घर पहुंच गया। पापा टहलने गए थे, मां को भी साथ ले गए थे। पिट्टू ने घंटी बजाई। केसू भैया ने दरवाज़ा खोला, दंग रह गया। अरे भैया आप! न चिट्ठी न पत्री, न फोन, न ख़बर! यह अचानक आना कैसे हुआ? मां और पापा घूमने गए हैं।

"अच्छा-अच्छा! चलो जल्दी से सामान अंदर रखो। मैं जाकर अंदर अपने कमरे में छुप जाता हूं। तुम बताना मत। मां और पापा को सरप्राइज दूंगा।

थोड़ी देर में मां और पापा आ गए। घर में घुसते ही लगा जैसे कोई सुगंध पूरे घर में महक रही हो। केसू के मुंह पर मुस्कान है। घर में कुछ भरा-भरापन लग रहा है। मां ने पूछा, केसू क्या बात है, आज घर में बड़ी अच्छी खुश्बू है। घर कुछ ज़्यादा चमक रहा है। क्या तुमने रूम फ्रेशनर तो नहीं छींटा? क्या कोई अगरबत्ती लगाई है?

मां यह कह ही रही थी कि पिट्टू एकदम प्रकट हो गया—हां यह रहा आपका रूम फ्रेशनर।

मां और पापा एकदम दंग। पिट्टू ने पैर छुए। पापा ने गले लगाया। मां तो चिपट ही गई। तीनों की आंखें की तर हो गईं। केसू की आंखें भी यह दृश्य देखकर छलछला आईं।

'मेरे लाल! एकदम यह क्या? न चिट्ठी, न पत्री, न फोन, न ख़बर! क्या काम खत्म हो गया?'

''अरे मां काम भी कभी खत्म होता है क्या? तुम्हारे कारण मैंने छह महीने का प्रोजेक्ट पांच महीने में ही पूरा कर दिया। कंपनी ख़ुश हो गई और अब भेज दिया मुझे एक महीने तक आपके पास रहने। अब तो ताज़ी-ताज़ी रोटी खिलाएंगी न?

''अरे बावले! तेरे कारण ही तो हम लोग ज़िंदा हैं। कैसी-कैसी चिट्ठी लिखा करता था तू? देख तो सही तेरे पापा ने तेरी सारी चिट्ठियां मेरे सिरहाने और मेरे गद्दे के नीचे दबा रखी हैं। वे कहते थे कि चिट्ठी के साथ सोओगी तो लगेगा बेटा तुम्हारे आस-पास है।

मां ने एकदम चादर हटाई, तकिया खिसकाया और सारी चिट्ठियां एक साथ पिट्टू के आगे डाल दीं। क्या-क्या लिख देता था तू। मैं तो इन चिट्ठियों में तुझे देख-देख जीया करती थी।

पिट्टू ने चिट्ठियां उठाईं। खोल-खोलकर देखा तो हर चिट्ठी पूरी की पूरी भरी हुई।

वह उछलकर पापा के सीने से जा लगा। मां यह दृश्य देखकर गद्गद हो उठी। सारी चिट्ठियां खुली पड़ी हैं। मां चिट्ठियों पर मुग्ध हैं—पापा और पिट्टू एक-दूसरे की आंखों में झांक रहे हैं।

•

सभ्यता

''तुम पतंग उड़ा रहे हो न? पतंग?''

''नहीं! मैं उड़ रहा हूं।''

''तुम तो ज़मीन पर हो, उड़ कहां रहे हो?''

''तुम्हें चाहिए तुम अपनी आंखों की जांच करवा लो!''

''मुझे तुम नहीं आसमान में तैरती पतंग ही तो दीख रही है!''

''मैंने कहा न! तुम आंखों की जांच करवाओ!''

''अच्छा तो बताओ, ऊपर से क्या देख रहे हो?''

''मैं नीचे नहीं देखता, आसमान से ऊपर और आसमानों को देखने के लिए उड़ रहा हूं!''

''क्या धरती से ऊब गए हो तुम?

''क्या धरती ऊब चुकी है, मुझसे, तुमसे, सबसे!''

''तुम्हें कैसे पता?''

''कई चीज़ें अपना पता खुद दे देती हैं।''

''कैसे?''

''तुमने पेड़ों से बात की है?''

''नहीं!''

''तुमने नदी से बात की है?''

''नहीं!''

''तुमने पंछियों से बात की है?''

''नहीं!''

''तुमने जानवरों से बात की है?''

''नहीं!''

''आखिर तुमने किसी से भी बात की है?''

"की है!"

"किससे?"

"तुमसे! यानी आदमी से!"

"तुम इतना भी नहीं जानते, मैंने अपने आदमी होने से इंकार कर दिया है।"

"तो फिर तुम क्या हो?"

"एक पतंग! आकाश में तैरती! डोर के हिलने-डुलने से हिलती-डोलती।"

"तुम्हारा मतलब, आदमी कुछ नहीं, महज पतंग है एक?"

"मैंने कब कहा ऐसा?"

"तो आखिर तुम्हें कहना क्या है?"

"आदमी होना बहुत मुश्किल है। कुछ भी हुआ जा सकता है—फूल, पत्ते, पेड़, पंछी, नदी...कुछ भी...कुछ भी!"

"अगर आदमी नहीं हो सकते, तो ये सब कैसे हो सकते हो?"

"जानता हूं। आदमी के पहले ये सब थे।"

"अब भी तो हैं?"

"हां हैं! अच्छा जाओ, ढूंढो एक पानी से लबालब कलकल बहती नदी! ढूंढो एक हरा-भरा जटाओं वाला वटवृक्ष! जाओ ढूंढो हमारे प्राणियों का एक पूर्वज डायनासोर! जाओ खोजो महकते जंगल, पशु-पक्षियों की उत्सव भूमि!"

"तो क्या इसलिए तुमने ज़मीन छोड़ दी?"

"ज़मीन ने मुझे डोर से बांधकर लटका दिया है आसमान में। कह दिया है, मैं ज़मीन में रहने लायक नहीं हूं!"

"तुम अकेले ऐसा क्यों सोचते हो? पूरी दुनिया आदमियों से भरी पड़ी है। इतने आदमी, इतने आदमी कि जिस दिन गिनो, जिस घंटे गिनो, जिस मिनट गिनो, जिस सेकिंड गिनो, हर वक्त संख्या बदल जाती है। आदमी यानी सिर्फ़ संख्या...संख्या...संख्या, असंख्य संख्या! पत्थर कहीं किसी भी दिशा में उछालो—पंछी बच जाएंगे, पेड़ बच जाएंगे, उन पर लटकते फल बच जाएंगे। नदी में छपाक की आवाज़ नहीं होगी; मगर पत्थर लगेगा, ज़रूर लगेगा किसी आदमी को!"

"आदमी पत्थर का क्या बिगाड़ लेगा?"

"वह गुस्से में पहाड़ खोद फेंकेगा!"

"मैदान क्यों नहीं?"

"मैदान रेगिस्तान हो चुका है!"

"पत्थर को लेकर आदमी इतना क्रूर क्यों? पत्थर से भी सख़्त आदमी?"

"कोई पत्थर क्रूर नहीं होता, सख़्त नहीं होता, तब तक, जब तक वह आदमी के हाथ में नहीं होता!"

"क्या आदमी के हाथ इतने सख़्त हैं?"

"सख़्त हैं? जब वह पत्थर से ज़्यादा भयानक चीज़ें रच सकता है तो पत्थर सख़्त हुआ या आदमी?"

"अच्छा यह बताओ क्या कभी तुम किसी आदिवासी से मिले हो?"

"मैं खुद एक आदिवासी हूं।"

"कैसे?"

"तुम्हारे अंदर भी एक आदिवासी है, उसे खोजो अपने अंदर!"

"क्यों! सभ्यता के संसार में आदिवासी की क्या ज़रूरत?"

"ज़रूरत है! सभ्यता और आदिवासी में बड़ा फ़र्क है।"

"क्या फ़र्क है?"

"सुनो एक कहानी सुनाता हूं!"

"एक गुफा में एक आदिवासी हवा के साथ रहता था। हवा उसकी जान थी। वह हवा को बहुत प्यार करता था। जहां जाता, जिधर जाता, हवा उसके अंदर घुस-घुसकर साथ चलती थी। हवा साथ होती थी तो वह थकता नहीं था। हवा उसे जब जैसा चाहे वैसा रखती थी। हवा और उसके बीच इतना गहरा संबंध था कि सभ्यता को उनके इस प्रगाढ़ प्रेम से जलन होने लगी!"

"सभ्यता को जलन? कौन सभ्यता? कैसी सभ्यता?"

"आदिवासी के पास एक मैना थी। आदिवासी जैसी आवाज़ निकालता, वैसी आवाज़ मैना भी निकालने लगती। आदिवासी आ-आ-आ करता और इशारा करता। मैना फ़ुर्र से उड़कर आ जाती उसके पास। फिर उसने एक दिन अचानक इशारा किया और ज़बान से निकला जा-जा-जा। मैना उड़कर चली गई। आदिवासी ने समझा अब आ और जा समझने लगी है मैना! उसने इशारे बंद कर दिए। बस इस तरह की कई आवाज़ वह रोज़-रोज़ निकालता। आवाज़ एक-दूसरे से जुड़ती गई। कई-कई आवाज़ें उसके कंठ से निकल-निकलकर गूंजने लगीं। वह दूसरे आदिवासियों को उन आवाज़ों से बुलाता, दूसरे आदिवासी उसकी आवाज़ जानने-पहचानने लगे। धीरे-धीरे वे आपस में ऐसी आवाज़ें करने लगे। जानते हो फिर क्या हुआ?"

"क्या हुआ फिर?"

"एक ख़ूबसूरत चीज़ ने जन्म लिया। निहायत ख़ूबसूरत! उससे ख़ूबसूरत कोई चीज़ आज तक पैदा ही नहीं हुई। उसकी ख़ूबसूरती पूरी धरती पर फैलने लगी। पूरी धरती पर आवाज़ें...आवाज़ें...और...आवाज़ें। लाखों-करोड़ों आवाज़ों का महासमुद्र लहाराने लगा धरती पर! जानते हो फिर क्या हुआ?"

"मतलब यह कि आदिवासी ने समुद्र पैदा कर लिया?"

"नहीं, समुद्र नहीं भी, और हां, समुद्र भी।"

"ऐसा कैसे हो सकता है...या तो 'हां' होगा या 'न'?"

"ठीक है मान लो 'हां'।"

"उस समुद्र में से एक से बढ़कर एक कई आवाज़ें पैदा हो गईं?",

"समुद्र में से आवाज़? यह कैसे?"

"आदिवासियों के समुद्र में से आवाज़, आवाज़ ही आवाज़?"

"क्या उसे ही तुम सभ्यता कह रहे हो?"

"नहीं! यह सभ्यता तो बाद की बात है।"

"तो फिर इन आवाज़ों के अंदर से कौन-सी वह ख़ूबसूरत चीज़ थी जो पैदा हो गई?"

"सोचो! वह आज तुम्हारे पास भी है, मेरे पास भी है, दुनिया भर के पास है! जानते हो वह क्या चीज़ है?"

"तुम तो पहेली बुझा रहे हो! क्या कोई परी थी? कोई फरिश्ता? कोई देवी-देवता? आखिर क्या?"

"इन सबसे बढ़कर, इन सबसे ऊपर!"

"तुम पहेली मत बुझाओ! बताओ कौन है वह?"

"तुम जिसे रोज़ बोलते हो। तुम जिसके साथ सोचते हो, खेलते हो, उसमें भजन भी गाते हो, गाली भी बकते हो। उससे होती है तुम्हारी पहचान! तुम क्या हो, क्यों हो, कहां से आए, क्या कर रहे हो, सबका पता दे देती है वह!"

"क्या तुम सभ्यता की बात कर रहे हो?"

"नहीं, मैंने कहा न, सभ्यता तो बाद में पैदा हुई। यह भी कहा जा सकता है कि सभ्यता और असभ्यता उसी के अंदर से निकली हैं।"

"ऐसी नायाब चीज़? है क्या वह?"

"मैंने कहा न, अगर वह है तो सभ्यता है। उसमें आदमी जितना नंगा हो जाता है, उतना तो कपड़े उतारकर भी नहीं। उसमें मनुष्य पशु से ज़्यादा हिंसक और बदतर भी हो सकता है और गुलाब के फूल की तरह नाजुक, खुश्बूदार भी।"

"अच्छा तो तुम बताओगे नहीं! चलो मत बताओ, मैं ख़ुद खोजता हूं उसे!"

"खोजने की ज़रूरत ही क्या है? खोजो अपने ही अंदर! मुंह खोलो, तुम्हारी ज़बान पर बैठी है वह, चहचहाती चिड़िया की तरह!"

"मुझे तो ज़बान पर कुछ नहीं दीखता, तुम्हें चिड़िया कहां से दीख रही है?"

"यही तो बात है। तुम पतंग नहीं देखते, धरती नहीं देखते, पेड़ नहीं देखते, नदी नहीं देखते, पहाड़ नहीं देखते, फिर कैसे दिखेगी? वह तो जन्म से साथ है और मौत के आखिरी पल तक तुम्हारे साथ है। आदमी होने के लिए उसका होना ज़रूरी है।"

"ठीक है, अब समझ गया मैं! मुझे सब कुछ दीख रहा है! पेड़, पौधे, नदी, पहाड़, समंदर, आदमी। सब कुछ! सब कुछ!!"

"वह दीख रही है या नहीं!"

"वह? कौन वह?"

"तुम्हारे मुंह की गुफा में, तुम्हारी ज़बान की सवारी करती वह? और कौन?"

"यार! तुम बहुत ही रहस्यवादी आदमी हो। बताने में हर्ज़ ही क्या?"

"यही तो मुश्किल है आदमी की। वह हमेशा दूसरे आदमी से सब कुछ जानना चाहता है, खुद जानने की कोशिश ही नहीं करता।"

"अच्छा, मान लिया। मगर उसका रंग-रूप तो बताओ!"

"वह रूप रहित, रंग रहित, आकार रहित, सबसे रहित है फिर भी सबके सहित है!"

"ऐसी क्या है वह?"

"तुमने जानवर देखे हैं?"

"देखे हैं।"

"पंछी देखे हैं?"

"देखे हैं।"

"पेड़ देखे हैं?"

"देखे हैं।"

"हवा देखी है?"

"वह कहां दिखती है?"

"पानी की आवाज़ सुनी है?"

"सुनी है।"

"हवा और पानी का रंग देखा है?"

"नहीं!"

"बस! जब तुम हवा और पानी का रंग पहचान लोगे, पंछी की बातें सुनोगे, पेड़ों को अपनी ही टहनियों से बतियाते सुनोगे, पत्तियों का संगीत सुनोगे, जानवरों की आवाज़ सुनोगे, तो तुम्हें पता चल जाएगा। तुम्हारे पास वह है जो इन सबसे आगे की चीज़ है!"

"बहुत हो गया यार तुम्हारा फ़लसफ़ा! अब तो बता दो उसे?"

"तो सुनो एक और कहानी!"

"अभी पहली कहानी ही खत्म कहां हुई?"

"ठीक है, उसी कहानी का हिस्सा है यह! सुनो!"

"आदिवासी के पास वह गई। बोली, 'मैं सभ्यता हूं।'

आदिवासी ने पूछा, 'वह क्या होती है?'

वह बोली, 'सभ्यता को अपना लो, सब कुछ जान लोगे!'

'उसे कैसे अपनाना होता है?'

'बड़ा आसान है। मैं जैसा कहती हूं, करते जाओ!'

'अच्छा! बताओ क्या करूं!'

'लो ये कपड़े देती हूं। पहन लो, नंगा रहना छोड़ो। ये घास-फूंस के कपड़े उतार फेंको!'

उसने वैसा ही किया।

'अब ये अपने लंबे-लंबे बाल, दाढ़ी, मूंछ सब काट दो। लो मैं तुम्हें औज़ार देती हूं।'

उसने वैसा ही किया।

'अब तुम पेड़ों पर, गुफाओं में, जंगल में रहना छोड़ो। मैं तुम्हें मकान देती हूं।'

वह मकान में रहने लगा।

'अब तुम कंद-मूल, फल-फूल खाना बंद करो। खेत, खलिहान, अन्न सब कुछ देने के बाद मैं तुम्हें अब पका-पकाया खाना देती हूं।'

उसने सब कुछ छोड़कर वह खाना शुरू कर दिया।

'अब मैं तुम्हारे पत्थरों के औज़ारों, कुल्हाड़ी, हंसिया-गेंती, कुदाल सबको उठाकर समुद्र में फेंक देती हूं। तुम्हारी सुरक्षा के नये-नये औज़ार देती हूं।'

उसे सारे औज़ार देकर उसने औज़ारों-शस्त्रों का एक ज़खीरा बना दिया।

'अब तुम्हें तुम्हारी ज़मीन का मालिक बनाती हूं। अगर कोई दूसरा तुमसे ज़मीन छीने तो तुम इन औज़ारों का इस्तेमाल करना, मुकाबला करना।'

‘ठीक है! यानी लड़ूंगा। सभ्यता के लिए लड़ना होता है। है न?’

‘ठीक कहते हो! अब तुम्हें एक देश देती हूं। तुम्हें यहां का राजा बनाती हूं।’

‘ठीक है।’

‘अब तुम क्या करोगे, खुद सोचो।’

‘अब मैं जो करूंगा, वह सुन लो।’

‘सुनाओ!’

‘सबसे पहले मैं तुम्हें बंदी बनाता हूं, तुम्हें फ़ांसी पर चढ़ाता हूं।’

‘अरे मेरे साथ ही ग़द्दारी?’

‘ऐसा मत कहो! यह ग़द्दारी नहीं खुद्दारी है! अब मैं अपने फ़ैसले खुद करूंगा!’

‘क्या करोगे?’

‘एक इतना बड़ा राज़ कायम करूंगा कि सारी दुनिया का राजा हो जाऊंगा।’

‘राजा होकर क्या करोगे?’

‘सारी दुनिया की दौलत अपनी मुट्ठी में क़ैद कर लूंगा।’

‘दौलत को क़ैद करने से क्या होगा?’

‘दौलत से ताक़त पैदा होती है। इतना ताक़तवर हो जाऊंगा कि सारी दुनिया मेरी ताक़त के आगे सिर झुकाएगी।’

‘ताक़त से और कुछ नहीं करोगे?’

‘करूंगा, ज़रूर करूंगा। खेत, खलिहान, फ़सल, बाज़ार, औज़ार, ज़मीन, देश, दौलत। सब पर मेरा ही कब्ज़ा होगा!’

‘उससे क्या होगा?’

‘उससे फिर सारी दुनिया को कई देशों में बांट दूंगा। हर जगह अपना एक आदमी राजा होगा।’

‘अगर वे राजा आपस में ही लड़ने लगे तो?’

‘बस यही तो चाहता हूं मैं! वे लड़ें। मैं हथियार दूं। दौलत मेरे पास है ही। उन्हें हथियार खरीदने के लिए भी दौलत दूंगा।’

‘उन्हें लड़ाने की बजाय खुद भी तो लड़ सकते हो?’

‘बस तुम यही तो नहीं जानतीं। मैं तो अब सभ्य हो गया हूं न! अब आदिवासी कहां रहा? मैं क्यों लड़ूंगा। कुश्ती खुद लड़ने से ज़्यादा मज़ा कुश्ती लड़वाने में आता है। इसलिए सारी दुनिया को अखाड़ों में बदल दूंगा।’

‘ज़रूर, ज़रूर, ज़रूर करो ऐसा! तुम ठीक से सभ्य हो गए हो। लाओ कहां है तुम्हारा फ़ांसी का फंदा? जल्दी दे दो मुझे फ़ांसी!’

'नहीं, अभी नहीं दूंगा तुम्हें फ़ांसी। जल्दी मत करो। मुझे अभी और सभ्यता चाहिए। तुम बनी रहो मेरी क़ैद में। मुझे सभ्य होने के लिए और क्या-क्या ज़रूरी है बताओ।'

सभ्यता ज़ोर से चीखी, 'अब तुम्हें मेरी ज़रूरत ही कहां है? लो तुम फ़ांसी नहीं देते हो तो क्या हुआ? तुमने जो वैज्ञानिक भेजा था न! वह मुझे तुम्हारी क़ैद से मुक्त होने का तरीका बता गया है।'

'तो उसने तुम्हें हमारी ताक़त का राज़ बता दिया। हम उस वैज्ञानिक को भी जेल में डाल देंगे।'

'ठीक है, बनाओ अब तुम जेलें, फांसियां, मौतें, मौतों के लिए वैज्ञानिक। मैं चलती हूं।'

सभ्यता फिर एक आदिवासी में बदल जाती है। उसके पंख निकल आते हैं और वह फ़ुर्र से उड़ जाती है।

उधर आसमान में तैरती पतंग की डोर काट दी जाती है और पतंग आसमान में भटकती-भटकती ज़मीन पर आ गिरती है जिसे लूटने के लिए दौड़ पड़ती है सारी दुनिया।

•

पंछी

घर की छत। छत क्या एक पूरा बेडमिंटन कोर्ट। चारों तरफ़ करीब चार फुट ऊंची दीवार। छत की मुंडेर पर एक दिन एक कौआ आकर कांव-कांव करने लगा। सुषमा ने कांव-कांव सुनी, वह किचन से निकलकर छत पर आ गई। सुषमा के किचन में एक बड़ी-सी खिड़की है। खिड़की के बाहर करीब एक फुट चौड़ी पट्टी। सुषमा उस पट्टी पर कभी चावल के दाने, कभी दाल, कभी रोटी के टुकड़े बिखरा देती। फिर खिड़की के बाहर झांककर पुकारती, 'चूं-चूं चिड़िया, आव-आव, दाना-पानी खाव-खाव'। सुषमा चूं-चूं चिड़िया इस तरह बोलती मानो चिड़िया खुद हो।

धीरे-धीरे चिड़िएं आने लगीं। एक-दो और अब करीब 15-20। सुषमा एक सकोरे में पानी भरकर रख देती। चिड़ियां पानी पीतीं, चोंच डुबो-डुबोकर मस्ती करतीं और कभी-कभी अपने पंख पानी में भिगोकर पंख फड़फड़ाकर पानी के छीटें उड़ातीं। सुषमा अपना हाथ बाहर कर देती। हाथ में कुछ अनाज के दाने रख लेती। कुछ दिन तो चिड़ियां उन दानों की तरफ़ आई ही नहीं। एक दिन हिम्मत करके एक चिड़िया आई और सुषमा की कलाई को पेड़ की टहनी समझकर बैठ गई। वह धीरे-धीरे उस टहनी-नुमा हाथ पर फ़ुदकने लगी। फ़ुदककर हथेली पर पहुंची। दाने चुगने लगी और चुग कर फ़ुर्र से उड़ने लगी। उसे देख और भी चिड़िएं आतीं और सुषमा के हाथ की डाल पर मस्ती करतीं, दानें चुगतीं और फ़ुर्र से उड़ जातीं। सुषमा के हाथ ही नहीं पूरे बदन में पंछियों की यह फ़ुदक एक अजीब-सा मीठा-मीठा स्पंदन भर देती। अब तो हाल यह था कि सुषमा ने खिड़की का एक पल्ला खोला और एक आवाज़ दी कि चिड़ियों का झुंड फुर्र-फ़ुर्र करके आ धमकता, सुषमा के हाथ की डगाल खोजता। फिर जैसे ही सुषमा हाथ बाहर करती एक-एक करके 5-10 चिड़िएं सुषमा के हाथ पर एक कतार में ऐसे बैठ जातीं जैसे बिजली के तार पर बैठती हैं।

सुषमा को इस बीच फिर कांव-कांव की आवाज़ सुनाई दी। वह छत पर आ गई। कौआ सुषमा को देखकर उड़ा नहीं बल्कि और जोरों से कांव-कांव करने लगा।

सुषमा समझ गई यह भूखा है। जंगल में अब पंछियों के लिए बचा ही क्या है? नदी, ताल, तलैया सूख गए। घने फलदार पेड़ काट-काटकर सफेदे के पेड़ों के निरर्थक जंगल उगा दिए गए। अब पंछी जाएं तो जाएं कहां, खाएं तो खाएं क्या और पियें तो पियें क्या?

कौआ और जोर-जोर से कांव-कांव करने लगा। सुषमा भागी। एक पीतल के कटोरे में पानी और कुछ बासी रोटी के टुकड़े लेकर दौड़कर वापस आई। कौए के पास पहुंचकर पहले पानी का कटोरा रख दिया। कौआ खुशी के मारे झूम उठा। कटोरे के आस-पास उड़-उड़कर गला गीला करने लगा। फिर सुषमा ने रोटी के टुकड़े सामने रख दिए। कौए ने एक भी टुकड़ा नहीं खाया। सुषमा क़हती कांव-कांव क्या करता है...खाव-खाव कर ना! वह नहीं खाता। फिर सुषमा ने रोटी का एक टुकड़ा उठाया और बोली, "ले खा!" कौआ झपटकर आया, हाथ में से टुकड़ा लिया और कटक-कटक कर पूरा टुकड़ा खा गया। फिर उड़ा और कांव-कांव करने लगा। सुषमा ने कहा— 'ये रखी तो हैं रोटियां, खाता क्यों नहीं?' कौए ने नहीं खाईं। जब सुषमा रोटी का टुकड़ा उठाती, तो फ़ौरन उड़कर आ जाता, रोटी हाथ से लेता और खा जाता। ऐसा लगा जैसे कोई बच्चा बार-बार अपनी मां से रूठ रहा हो और मां उसे मना-मनाकर खिला रही हो। सुषमा ने सोचा यह कौआ ऐसा पहले ही दिन क्यों कर रहा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि वह चिड़ियों को मेरे हाथ पर चुगते रोज़ देखता रहा हो और उसे लगा हो कि ज़ब चिड़ियों को हाथ पर बिठाकर खिला सकती हूं तो उसे अपने हाथ से क्यों न खिलाऊं?

सुषमा के लिए अब यह रोज़ का नियम हो गया। सुबह का समय इसी तरह कटने लगा। थी भी अकेली, घर में और तो कोई था नहीं। शादी की नहीं। करीब 45-50 की उम्र हो गई। पिता रहे नहीं। मां बीमार होने के कारण बड़ी बहन के साथ रहने चली गई। अब सुषमा अपना एकांत बांटे भी तो किसके साथ। उसे अचानक ही अपने नये-नये दोस्त मिल गए। वह अपना सारा एकांत भूलकर पंछियों की कंपनी में इस कदर खो जाती कि उसे कई बार तो अपने नहाने-धोने, खाना बनाने और दफ़्तर जाने की तैयारी का ख़्याल ही न रह पाता।

सुषमा एक बार अपनी बचपन की दोस्त नग़मा के बुलाने पर लंदन गई थी। उसने वहां देखा कि ओल्ड ट्रेफलगर स्क्वायर पर लोग दाना खरीदते और कबूतरों को डालते। वहां सुबह पौ फटने से लेकर दिन डूबने तक कबूतरों के झुंड के झुंड मंडराते

रहते। गुटरगूं करते, एक-दूसरे से चोंचें लड़ाते और दाना चुग-चुग कर उस पूरे चौक के आस-पास उड़ते रहते। स्लेटी, सीपिया, सफेद, चितकबरे—तरह-तरह के रंग वाले कबूतर। ट्रेफलगर स्क्वायर उनका अभयराण्य या पक्षीघर। सब सुरक्षित। न गुलेल का डर, न बंदूक की आवाज़। ऐसा जैसे कोई पंछियों का आश्रम हो जहां कबूतर कोई मंत्र पढ़ रहे हों या बाइबिल की शांति और प्रेम का संदेश गा रहे हों। कबूतर यों ही तो शांति के प्रतीक नहीं बन गए। उनसे बढ़कर डाकिया भी कौन! प्रेम-पत्र लाने-ले जाने के तो वे एकदम ऐसे एक्सपर्ट कि अगर कोई महारानी या राजकुमारी अपने महल के अंदर के सबसे आखिरी कमरे से भी प्रेम संदेश भेजना चाहती तो कबूतर महाशय गुटरगूं करके वहां मौजूद और मोहब्बतनामा लेकर पहुंच जाते उस प्रेमी के दरवाज़े पर जहां वह ख़त के इंतज़ार में कबूतर की उड़ान निरख रहा था। कबूतर ख़त डिलीवर करते, जवाब का इंतज़ार करते, कुछ दाना-पानी से कलेवा करते और दूसरा मोहब्बतनामा लेकर चल देते, राजकुमारी के महल के आखिरी कक्ष तक।

सुषमा की स्मृति कहां से कहां चली गई। उसे लगा क्या वह किसी जन्म में कोई चिड़िया, कौआ या कबूतर तो नहीं थी! इतना ज़रूर है कि वह पुराने शहर में जहां रहती थी, वहां एक बड़ा मैदान था। मैदान से सटा हुआ ही उसका एक लंबा- चौड़ा घर था जिसके हर कमरे की, किचन की, यहां तक कि बेडरूम, बाथरूम की खिड़कियों का रुख भी मैदान की तरफ़ ही था। वहां वह बारिश के चंद दिनों बाद रोज़ एक नज़ारा देखती। पड़ोस में दो दोस्त रहा करते थे। वक्त ने उम्र के साथ बढ़ाकर दोनों को बूढ़ा कर दिया था। दोनों की बीवियां खुदा को प्यारी हो चुकी थीं। बच्चे बाहर नौकरी-चाकरी में निकल गए थे। दोनों बूढ़े कभी शतरंज-चौपड़ खेल कर दिन गुज़ारते, साथ टहलने जाते और पौ फटने के साथ एक काम करते—कभी सईद मियां तो कभी गोरेलाल घर से एक छाबड़ी में अनाज भर कर लाते। पहले दिन छाबड़ी के दाने सईद मियां ने फैला दिए मैदान पर। बहुत कम पंछी आए। दूसरे दिन गोरेलाल ने भी ऐसा किया। कुछ पंछी आने लगे। मगर कुछ कम। पांच-दस से ज़्यादा नहीं।

दोनों ने सोचा, ये पंछी है कहां। दाना डालने पर भी आते क्यों नहीं। सुबह से उड़ जाते हैं—देखो न क्या कतार बनाते हैं आसमान में। एक चाप जैसे या धनुष जैसे आकार में एक साथ ऐसे उड़ते हैं जैसे आसमान में लहराती हुई कोई नदी बह रही हो। वही नज़ारा शाम को भी। आस-पास के दरख्तों पर उसी तरह लौटकर आते

हैं। चहचहाहट के शोर-गुल से या उनके संगीत से पूरा मोहल्ला गूंज उठता है। शाम का धुंधलका बढ़ा, पेड़ पर अंधेरा उतरने लगा और पंछी एक साथ ऐसे चुप जैसे योगियों ने मौन धारण कर लिया हो।

एक दिन सईद मियां ने पूछा—क्यों यार गोरेलाल, इतने ढेर सारे पंछी हम रोज़ उड़ते देखते हैं, ये हमारा दाना चुगने क्यों नहीं आते? गोरेलाल कहता— 'मियां खुद्दार सिर्फ़ इंसान ही नहीं होते, पशु-पक्षी भी होते हैं। तुमने देखा नहीं वह सामने वाले मकान में जो लड़की रहती है कितनी मिन्नत से टेर-टेर कर पंछियों को बुलाती है और फिर कितने प्यार से अपनी हथेली पर चुगाती है।'

'समझ गया यार, समझ गया।'

दूसरे दिन सईद मियां छाबड़ी भर कर ज्वार लाए और खड़े हो गए मैदान के कोने पर। आधी छाबड़ी गोरेलाल को दे दी। दोनों पंछियों के जंगल जाने से पहले ही खड़े हो गए और जोर से गाने जैसी आवाज़ में बोलने लगे, 'पंछी आव-आव-आव, दाना खाव-खाव-खाव'। पंछियों की तेज़ नज़र ने नीचे दानों की बरसात होते देखी। वे आवाज़ सुन-सुनकर उतरने लगे। कौवे-कबूतर, चिड़िएं, तोते न जाने कितनी तरह के पंछी। कुछ दिनों में पूरा का पूरा मैदान पंछियों से भरने लगा। तरह-तरह की आवाज़ें, तरह-तरह से उड़ान! पहले दिन जब पंछियों की पहली भीड़ आई तो सईद मियां लपककर गोरेलाल के गले से लिपट गए। बोले—सच कहते हो यार गोरेलाल, पंछी भी खुद्दार होते हैं। बिना बुलाए पंछी भी नहीं आते। कहीं इंसानों ने खुद्दारी का यह जज्बा पंछियों से तो न सीखा हो?

एक दिन का वाकया है, गोरेलाल को पंछी चुगाते-चुगाते गश आ गया। वह ज़मीन पर लेट गया। सईद मियां पागल की तरह इधर-उधर दौड़ने लगे। अकेले की कूवत भी नहीं कि वे गोरेलाल की भारी-भरकम देह को कंधे पर उठाकर अस्पताल ले जाते। वे आस-पास मदद के लिए पुकारने लगे, मगर इतने सवेरे आता भी तो कौन? सुषमा ने खिड़की से झांककर देखा तो दौड़कर मैदान में पहुंची। सईद मियां से बोली, 'चचाजान, क्या हुआ?'

'अरे बेटी, यह गोरे अचानक गश खाकर गिर पड़ा। अब इसे अस्पताल ले जाएं भी तो कैसे?'

'फ़िक्र मत कीजिए, मैं अभी गाड़ी बुलवाती हूं। ड्राइवर तो है नहीं, मगर पड़ोसी को फोन कर देती हूं।' उसने मोबाइल पर पड़ोसी रहमत मियां को फोन लगाया, मगर उधर से जवाब था—फोन को स्विच ऑफ कर रखा है। फिर पास ही रह रहीं फ्लोरंस आंटी को फोन लगांया, वे बोलीं अभी मैं चर्च प्रेयर के लिए जा रही हूं। आज संडें

है न, प्रेयर जल्दी ही शुरू होगा, तैयारी कर रही हूं। अब सुषमा करे तो क्या करे। वह दौड़ी और पास के पुलिस स्टेशन पहुंची। वहां सुबह-सुबह एक सिपाही ऊंघ रहा था। कोई गाड़ी थी नहीं। उसने थाने से सरकारी अस्पताल को फोन लगाया, एम्बुलेंस के लिए। मगर कोई जवाब नहीं।

इस बीच वहां से एक दूध-वाहन गुज़रा, जो डेयरी बूथ पर दूध के क्रेट उतारकर लौट रहा था। सुषमा ने ड्राइवर से कहा तो वह बोला– 'हमें ऑर्डर नहीं है, यह काम करने का। फिर कुछ हो गया तो हम तो फंस जाएंगे।'

सुषमा ने बहुत मिन्नतें कीं। ड्राइवर का दिल नहीं पसीज और वह जाने को हुआ। सईद मियां दौड़कर आए और बोले, 'क्यों बेटी कुछ हुआ? न चचा, न! ड्राइवर बड़ा सख्त-दिल आदमी है। अच्छा चचा एक प्रयोग करते हैं आज।'

'कैसा प्रयोग बेटी? प्रयोग करते-करते तो गोरे कहीं विदा न हो जाए।'

'यह जो दूध की लॉरी है, न। इसके सामने चलकर हम खड़े हो जाते हैं और वहां से जोर-जोर से चिल्लाते हैं–आव-आव-आव! पंछी प्यारे आव-आव-आव।

सईद मियां और सुषमा दोनों दूध की गाड़ी के सामने खड़े होकर आव-आव-आव चिल्लाने लगे। देखते क्या हैं–सारे पंछी उड़- उड़कर लॉरी के आस-पास छा गए। कांच पर बैठ गए। खिड़की से घुसकर स्टीयरिंग पर बैठ गए, सड़क पर जमा हो गए। ड्राइवर देखता है हज़ारों पंछियों ने उसे घेर लिया है, कबूतर उसके कंधों पर बैठे हैं, कौआ उसे चोंच मार रहा है। सामने पंछी ही पंछी, ड्राइवर गाड़ी स्टार्ट करे तो कौआ उसके हाथों पर चोंच मार दे, तोता कान पकड़ ले। ड्राइवर मजबूर हो गया।

फिर उसने सोचा ये पंछी अगर एक आदमी की ज़िंदगी के लिए ऐसा कर सकते हैं तो मैं क्यों नहीं। उसने सुषमा को आवाज़ दी, सईद मियां को पुकारा। वह लॉरी से अपने नौकरों के साथ उतरा, गोरेलाल जहां गिरा पड़ा था...वहां से उसे सबने मिलकर उठाया। सईद मियां और सुषमा को भी लॉरी में बैठाया। चल दिया गोरेलाल को लेकर अस्पताल। पंछी साथ-साथ उड़कर जा रहे थे, कुछ आगे, कुछ पीछे। कुछ बाजुओं से–शायद यह सोचकर कि कहीं ड्राइवर बीच में छोड़कर न भाग जाए।

लॉरी अस्पताल पहुंची। गोरेलाल को दाखिल करवाया। सुषमा और सईद मियां ने ड्राइवर का शुक्रिया अदा किया। ड्राइवर अचानक देखता है जो हज़ारों पंछी उड़कर साथ आए थे–सबके सब ग़ायब?

सूरज निकल आया और सूरज की किरणों से सुषमा और सईद मियां के चेहरे चमक उठे।

झगड़ा

"तुम हर बात पर चिढ़ती क्यों हो?"

"तुम दिन भर बड़बड़ाते हो जो?"

"जानता हूं...बहुत काम करती हो। इसका मतलब यह तो नहीं कि हर काम चिढ़कर, चिल्लाकर ही करो। नहीं बनता है तो मत करो।"

"मैं नहीं करूंगी, तो यहां कौन मेरी मां या मौसी बैठी हैं जो काम कर देंगी।"

"नौकरानी रख लो।"

"हैं इतने पैसे आपकी गांठ में, जो हर काम के लिए नौकरानी रख लूं?"

"काम है ही कितना? झाड़ू-पोंछा, खाना बनाना और ज़्यादा से ज़्यादा कपड़े धोना। बाकी और है ही क्या?!"

"वाह! क्या काम गिनाए! बाकी कुछ नहीं! है न?"

"हां, ठीक ही तो कहता हूं। अब तुम्हें काम करने की आदत हो गई है, तो मैं क्या करूं?"

"आप काम करके देखिए तो सही जरा। नानी याद न आ जाए तो कहना।"

"अरे मैं यह कहां कहता कि सब काम तुम ही करो। कह तो रहा हूं अपना काम नौकरों में बांट दो।"

"अच्छा तो जाइए, ढूंढिए नौकर और करवा लीजिए सारे काम!"

"आस-पास जाकर देखो, पड़ोस से पूछो, कोई तो मिल ही जाएगा या मिल जाएगी।"

"ठीक है मिल जाएगा या मिल जाएगी। जानते हो कभी गिलास टूटेगा, कभी कप फूटेगा, कभी स्टैंड पर से बरतन गिरेंगे, कभी किसी कमरे में जाले तने मिलेंगे। कपड़ों से या तो मैल छूटेगा नहीं या किसी दूसरे कपड़े का रंग लग जाएगा। ऐसे मिलेंगे नौकर!"

"अब तुम्हें नौकर-नौकरानी का काम पसंद ही नहीं तो मैं क्या करूं? देखो वह पास के घर में कमला काम करती है, खुद भी साफ़-सूफ रहती है और खन्ना साहब कह रहे थे, काम बहुत अच्छा करती है, किसी चीज़ से हाथ नहीं लगाती। बड़ी ईमानदार, फुर्तीली और बोलचाल की अच्छी है।"

"तो क्या तुम कमला को ही निहारते रहते हो? तभी तो कहूं पहले जो शोभा अपने यहां काम करती थी, उस पर भी निगाह थी। क्या है आदमी की जात! पांव कब्र में, मगर इश्क़ की आदत गई नहीं। आखिर नौकरानी को समझा क्या है आपने? वह बेचारी पेट भरने, कुनबा चलाने, मारी-मारी फिरती है और साहब हैं कि उस पर नज़र गड़ाए बैठे हैं। क्या नौकरानी का कोई चरित्र नहीं होता? वह आपका काम करने आती है, अपनी देह बेचने या आपके साथ इश्क फरमाने नहीं।"

"मैंने खन्ना साहब के मुताबिक जरा तारीफ़ क्या कर दी, तुम तो बदली बनकर फट पड़ीं, और कर दी बौछार अपने गुस्से की। मैं नौकरानी रखने की बात कर रहा था, कोई तुम्हारी सौतन रखने की तो नहीं। बहुत बोलती हो यार तुम! इसीलिए झगड़ा मचा रहता है दिनभर! मैंने जरा कुछ कहा या पूछा तो सीधे मुंह बात ही नहीं करतीं। गुस्सा तो नाक पर धरा है। क्या ऐसे ही कटेगा बुढ़ापा? अच्छा था जो नौकरी में था, दिनभर दफ़्तर में रहता था। इतनी सुननी नहीं पड़ती थी। अब तो दिनभर बक-बक, बक-बक; घर है या दंगल का अखाड़ा?"

यह सुनकर तो पत्नी और झल्ला उठी, "सौतन की मन में है तो अब सौतन की ख्वाहिश भी पूरी कर लो। एक नहीं, चार-चार नौकरानी या चार-चार सौतन रख लो। मेरा क्या, पड़ी रहूंगी एक कोने में! चाहो तो दो रोटी दे देना, वरना मैं भी घर-घर काम करके कमा लूंगी!"

"मुझे उम्मीद नहीं थी उमा कि तुम इतनी आगे निकल जाओगी। कितनी घटिया सोच है तुम्हारी? काम करती हो तो अपनी मरज़ी से। मैं तो नहीं कहता कि दिनभर काम करो। तुम्हें जरा भी फ़ुरसत है क्या जो तुम मेरे साथ दो घड़ी बैठो, बात करो, हंसो-बोलो।"

"बस, बस! पास बैठ गई तो हो गया सारा काम! घर बास उठेगा। अब बुढ़ापे में पास बैठकर बात करने का होश आया। पूरी ज़िंदगी तो फ़ुरसत मिली नहीं। रात को भी आते ही बिस्तर पर पड़ जाते और खर्राटे मारते रहते। मैं खर्राटों की मारी करवटें बदलती रहती। जरा भी प्रेम से कहा होता, आओ उमा, खाने-पीने के बाद थोड़ा घूम आएं, सोने के पहले बातें करें तो क्या मैं ऐसा कहती।"

"अगर रात होते ही बिस्तर पर पड़कर सो जाता था तो ये तीन-तीन औलादें क्या आसमान से टपकी हैं। बाहों में भर-भर कर कितना प्यार किया! मगर औरत अपने ही प्यार का दावा करती रहती है, मर्द के प्यार को तो प्यार मानती ही नहीं।"

"अच्छा बस-बस, बहुत हो गई बहस! लो आज आकर बैठ गई पास! लो साथ-साथ पीते हैं, शाम की चाय!"

दोनों साथ-साथ चाय पीने लगे।

अचानक पतिदेव के दिमाग़ में किसी कीड़े ने काटा और उन्होंने धर्मपत्नी को छेड़ दिया। बोले, "उमा वैसे तो तुम बहुत अच्छी हो, घर का कितना काम करती हो, दिनभर लगी रहती हो, मगर जब तुम बोलती हो न तो...?"

"तो क्या, कह दो न कि बिलकुल डायन लगती हूं, गंवार लगती हूं।"

"देखो, पूरी बात सुनी नहीं और बोलीं भी तो क्या बोलीं!"

"तो इसका मतलब, आपकी बात के जवाब में भजन गाती, श्लोक बोलती?"

"यही तो कमी है तुम्हारे अंदर। पूरी बात सुनी नहीं और उबल पड़ीं चूल्हे पर धरे दूध की तरह। थोड़ा भी सोच-विचार नहीं।"

"हां, हां...सोच-विचार का ठेका तो सिर्फ़ मर्दों का है न। हम तो सारी जली-कटी सुनाने के लिए ही औरत बनी हैं।"

"अब यह मर्द-औरत का मामला कहां से उठा दिया! अच्छा हुआ दोनों लड़कियों की शादी हो गई और लड़का भी जापान चला गया। नाती-पोते भी घर में नहीं हैं—वरना सुनते तो क्या कहते?"

"यही कहते कि अच्छा लड़ाकुओं का घर है यह। दिन भर कलह, कलह के सिवा कुछ नहीं।"

"तो कलह तुम करती हो या मैं!"

"हां, हां! सारी कलह की जड़ तो मैं ही हूं न। उखाड़ फेंको जड़ को ही।"

"जड़ को उखाड़ फेंकूंगा तो यह पेड़ सूख नहीं जाएगा!"

"रख लेना दो-चार नौकरानियां, पेड़ ही पेड़ हो जाएंगे।"

"यार उमा! तुमसे तो कोई भी बात करना बेकार, कोई काम कहना बेकार! अब बुढ़ापा लड़-लड़कर ही कटेगा क्या?"

"तो मैं लड़ती हूं? मैं ही ठीक नहीं बोलती, न कोई आपका काम करती!"

"तुम सब कुछ करती हो, लेकिन किए-कराए पर पानी फेर देती हो।"

"अच्छा, तो सुबह-सुबह की चाय कौन बनाता है?"

"तुम, मगर अहसान के साथ!"

"दरवाज़े पर से अख़बार कौन उठाकर देता है?"

"तुम, मगर साथ ही यह भी कहे बगैर नहीं रहतीं कि लो यह आपका अख़बार और दे दो अपना सिर इसमें! जोर से पटककर चल देती हो।"

"आपका चश्मा भी तो खोजकर लाना पड़ता है मुझे ही?"

"ठीक है, उसके बिना अख़बार पढ़ता भी कैसे? मगर साथ ही यह भी कह देती हो, लो चढ़ा लो चश्मा आंखों पर।"

"तुम समझते हो यह सब मैं चिढ़-चिढ़कर करती हूं और तुम्हें बुरा लगता है? अच्छा मेरे चिढ़ने की आदत को तो आपने इतना पकड़ लिया, मगर क्या तुमने कभी पूछा है उमा! आज पानी भरने में मैं मदद कर देता हूं! लाओ सब्ज़ी मैं काट देता हूं। आज चाय मैं बना लूंगा! चश्मा पहले से ही मेज़ पर रख लूंगा। बताओ—कहा है कभी ऐसा?"

"कह भी देता तो क्या मानतीं तुम?"

"कह कर देखते तो सही!"

"मतलब यह कि तुम चाहतीं रही कि ये सब काम मैं खुद करूं!"

"चाहने से होता भी क्या? तुम करते तब न?"

"क्यों क्या मैं मना कर देता?"

"न भी करते। काम क्या करते पूरा घर सिर पर उठा लेते। चाय बनाते तो कहते यह तो पतीली साफ़ नहीं है, सब्ज़ी काटते तो चाकू ढूंढ-ढूंढकर चिल्लाते फिरते। काम क्या करते ऐसा लगता जैसे घर में तूफान खड़ा हो गया है।"

"इसका मतलब यह कि तुमने मुझे बिलकुल ही नकारा मान लिया। मैं कुछ न कर सकता तो ये नौकरी के चालीस साल इतने अच्छे से कैसे गुज़ारता? न एक भी आरोप, न इंक्वायरी, न गबन, न काम में ढिलाई।"

"जनाब गुप्ता साहब! कागज़ चलाना और घर चलाना—दो अलग-अलग बातें [illegible]।"

"तुम कागज़ चलाकर एक दिन भी तो देखतीं जरा।"

"फिर तुम्हारे तीन-तीन बच्चों को कौन चलाता? आपको वक्त पर हाथ में [illegible] पकड़ाकर दफ़्तर कौन भेजता? बाज़ार से सौदा-सूद कौन लाता? तुम घर [illegible] क्या थे? बस इतना करते थे कि कागज़ चलाने के बदले जो तनख्वाह [illegible] ज़रूर मेरे आगे पटक देते। उस तनख्वाह में घर कैसे चलता था, कभी पूछा [illegible] में घर में सिलाई करती, घर बैठे बच्चों को ट्यूशन पढ़ांती, तब जाकर तीनों

बच्चे ठीक से पढ़े और शादी-ब्याह भी ढंग से हो गया। बताइए अब कागज़ चलाना और घर चलाना क्या एक जैसा है?"

"मैं यह नहीं कहता। मगर इतना ज़रूर कहूंगा कि घर चलाने के लिए कागज़ चलाना ज़रूरी है। और जो तुम यह सिलाई और बच्चे पढ़ाने का उलाहना दे रही हो न, यह कोई तीर मारने की बात नहीं है।"

"देखो ज़्यादा तीसमार खां मत बनो! मैं भी पढ़-लिखकर आई थी। घर चलाने की फ़िक्र न होती तो चालीस साल पहले नौकरी मिलना कौन बड़ी बात थी? करती रहती नौकरी। फिर पल जाते इतनी अच्छी तरह बच्चे और चला पाते आप कागज़ भी अच्छी तरह?"

"मैं तुमसे बहस में जीत नहीं सकता। तुम बात का बतंगड़ बना देती हो। आगा-पीछा कुछ सोचती नहीं, जो मन में आया बोल दिया। ज़बान पर लगाम ही नहीं। अब चालीस साल पुरानी कथा ले बैठीं। यह भी हो सकता था कि चालीस साल पहले नौकरी कर लेतीं तो मुझसे शादी ही न होती। कोई बड़ा घर मिल जाता। बड़े घर की घरवाली कहलातीं। अब आया चालीस साल बाद, चालीस साल पहले का ख़्याल! अजीब औरत हो!"

"औरत हूं तो हूं! इसमें अजीब क्या है? जरा-सी सच्चाई क्या उगली, मिर्च लग गईं। होने लगे लाल-पीले। मेरे बिना चार पल तो रह नहीं सकते और बनाने चले हैं मुझे बड़े घर की घर वाली।"

"देखो, उमा! इस तरह रोज़-रोज़ का झगड़ा अच्छा नहीं लगता। चालीस साल से यही बड़-बड़ सुन-सुनकर मेरे तो कान पक गए हैं। तुमको कितना समझाया, मगर तुम हो कि मानती ही नहीं।"

"तो आप क्या कम हैं जनाब! हर वक्त तो जली-कटी सुनाते रहते हैं। जरा-सा सब्ज़ी में नमक कम या ज़्यादा क्या हो गया, बस बरस पड़े पूरे खाने पर। कितनी बार थाली फेंककर उठे हो! कितनी बार चाय में थोड़ी भी चीनी कम होने पर बिचारे कप-बशी शहीद होते-होते बचे हैं! मैं तो ठहरी बड़-बड़ करने वाली, गुस्सैल, बदमिज़ाज! और आप? आपका क्या कहना! तालाब के पानी की तरह शांत। बोलते हैं तो जैसे फूल झर रहे हों। कितना प्यार रहता है आपकी ज़बान पर? कोई हसीना सुन ले तो आप पर जान दे बैठे!"

"अब तो तुमने हद ही कर दी। बात-बात पर एक नया झंझट! व्यंग्य बाण चलाने में भी नहीं चूक रहीं। हे भगवान! औरत को ज़बान दी है या छुरी?"

"सीधे-सीधे कह दो न। छुरी हूं मैं छुरी, ज़हर बुझी छुरी। सारे घर को मारने पर तुली हूं।"

"सुनो, उमा! अब एक मिनट चुप हो जाओ। आज हम दोनों मिलकर एक फ़ैसला कर लें?"

"कैसा फ़ैसला? बुढ़ापे में तलाक का?"

"नहीं!"

"तो फिर कैसा फ़ैसला?"

"आज से हम-तुम आपस में बोलना बंद कर दें। बोलने का ही तो यह सारा फ़साद है। बोलेंगे ही नहीं तो झगड़ा भी नहीं होगा। तुम्हारा भी मुंह बंद, मेरा भी बंद! बस यही एक रास्ता बचा है?"

"ठीक है! जैसा तुम चाहो!" उमा उठ खड़ी हुई। पति के सीने से चिपककर फफक पड़ी और बोली, "सुन लो, आखिरी बार बोल रही हूं।"

"बोलो, बोलो, क्या कहती हो? आखिरी भड़ास भी निकाल लो।'

"अगर हम दोनों झगड़ेंगे नहीं तो जिएंगे कैसे?"

बच्ची

एक बच्ची को जन्म देने के बाद ललिता ने तय किया कि अब वह आगे गर्भ धारण नहीं करेगी। मगर सवाल यह था कि अगर–

"पति ने चाहा तो?"

"क्यों सब कुछ पति के चाहने से ही होगा, मेरे चाहने से नहीं?"

"अगर सास-ससुर ने एक बेटे को वंश चलाने के लिए चाहा तो?"

"क्या बेटी परिवार की वंशज नहीं है?"

"क्या तुम सबकी इच्छा ठुकरा कर मनमानी करोगी?"

"इसे मनमानी क्यों कहा जाए? क्या अपने गर्भ पर स्वयं मेरा कोई अधिकार नहीं!"

"अधिकार तो तुम्हारे पास कई हैं। कितने अधिकारों का इस्तेमाल तुम करती हो, या करती आई हो?"

"सारे अधिकार बेमानी हैं। मेरा गर्भ मेरा सबसे बड़ा और सबसे सार्थक अधिकार है।"

"तो क्या ऑप्रेशन करवाओगी या पति से नसबंदी करवाने के लिए कहोगी?"

"ऐसा ज़रूरी नहीं।"

"तो क्या गर्भ निरोधकों का उपयोग करोगी?"

"कर सकती हूं।"

"फिर भी पति अगर असहमत हुए तो?"

"गर्भाशय ही निकलवा दूंगी!"

"इससे तो परिवार में कलह होगी। कलह की वजह भी तुम मानी जाओगी!"

"कलह का सवाल ही क्यों उठेगा। सबको समझाऊंगी। पढ़ा-लिखा परिवार है समझ जाएगा।"

"मगर ज़िद से परिवार टूट जाते हैं, जानती हो?"

"जायज़ ज़िद के लिए ज़िंदगी भी गंवानी पड़े तो क्या हर्ज़ है?"

"तुम इसे जायज़ क्यों कहती हो?"

"यदि पुरुष गर्भ धारण कर सकता तो उसे जायज़-नाजायज़ का पता चल जाता।"

"मगर स्त्री भी इसमें शामिल है, जैसे तुम्हारी सास या मां?"

"वे अपने ज़माने में स्त्री थीं ही कहां? वे तो संतान उत्पादन का कारखाना मानी जाती थीं!"

"तो उन्हें गर्भ धारण क्या होता है, प्रजनन क्या होता है, प्रसव क्या होता है, बच्चों का पालन-पोषण क्या होता है, कुछ भी पता नहीं था?"

"पता होगा भी तो क्या करतीं। जब उन्होंने स्वयं को कारखाना होना स्वीकार किया तो फिर वे स्त्री रही ही कहां। वे बच्चों को पैदा करने का कारखाना, पालन-पोषण के लिए स्वयं एक दाई और पति के लिए एक वासना पूर्ति का साधन! इससे ज़्यादा क्या रहीं वे आज तक?"

ऐसे अनेक सवालों के साथ खुद से बहस करती रही ललिता और बार-बार देखती-पुचकारती रही अपनी प्यारी-सी नवजात बच्ची को। अधिक लाड़ में कह देती— 'तू मेरी एकमात्र संतान होगी। तुझे तेरा पूरा बचपन दूंगी, पूरा लड़कीपन देकर हर तरह से सक्षम और ताक़तवर बनाऊंगी और जब तेरे अंदर आकार लेगी तो तुझे ही सौंप दूंगी, तुझको। मैं तेरे स्त्रीपन में अपने स्त्रीपन का कोई हस्तक्षेप नहीं करूंगी।'

ललिता मनोविज्ञान की अध्यापक है। क्या है उसका मनोविज्ञान? इस मनोविज्ञान में कितने प्रतिशत है उसका बाल-मनोविज्ञान, कितने प्रतिशत स्त्री-मनोविज्ञान, कितने प्रतिशत पुरुष-मनोविज्ञान, कितने प्रतिशत समाज-मनोविज्ञान? उसने प्रतिशतों में मनोविज्ञान नहीं पढ़ा लेकिन उसे लगा स्त्री-मनोविज्ञान उसका शत-प्रतिशत मनोविज्ञान है।

एक स्त्री तो अपनी देह में भी मनोविज्ञान ही है। उसके मन की तलहटी में कोई चहलकदमी तब तक नहीं कर सकता जब तक उसके मन की तलहटी तक वह कोई पगडंडी नहीं बना देती। ललिता एक परिपक्व और विचार-पुष्ट स्त्री है। वह उद्धत या अहंकारी नहीं; पति या परिवार उसके लिए उपलब्धि भी हैं, आवश्यकता भी और जीवन को जीने का मनोविज्ञान भी। उसने बचपन में कोई ज़िद नहीं की। उसे याद नहीं आता कि वह कभी चॉकलेट, टॉफी या गुब्बारे के लिए

मचली हो, पिता के साथ बाज़ार या घूमने जाने की ज़िद करती रही हो, खिलौने की मांग को लेकर घर को सिर पर उठाती रही हो। सात बच्चों के बीच उसका बचपन खाने-पीने की मौज के साथ बीता, ज़िद के साथ नहीं।

शादी के बाद, एक बच्ची की मां बनते ही ज़िद का यह अंकुर कहां से फूट पड़ा ललिता में? क्या परिवार के सात बच्चों को देखकर? क्या अपनी मां के लटकते सूखे स्तनों और गर्भ धारण कर करके ध्वस्त शरीर को देखकर या पिता की वासना का मां पर असर देखकर? ऐसी तो कितनी ही ललिताएं हैं हर परिवार में, लेकिन क्या सभी ललिताएं ऐसा निर्णय ले सकती हैं? क्या इस तरह की ज़िद भी किसी त्रिया-हठ का ही एक रूप है? वैसे तो त्रिया-हठ एक भौंडा व्यंग्य है स्त्री को लेकर, मगर त्रिया-हठ अगर है और वह ललिता के हठ की तरह है, तो ऐसा त्रिया-हठ हर स्त्री में होना चाहिए।

"लेकिन सभी ललिताओं ने इसकी तरह मनोविज्ञान तो पढ़ा-लिखा नहीं हैं!"

"न हों! स्त्री तो स्वयं अपना मनोविज्ञान है। अपना गर्भ क्या वह किसी किताब के मनोविज्ञान से कम जानती है? अपनी संतान को क्या वह किसी मनोविज्ञान के सहारे पालती-पोसती है? पाठशालाएं बनाने वालों ने न जाने क्या-क्या विषय तो रच डाले मगर घर की पाठशालाएं उजाड़ दीं। स्त्री के मन की पाठशाला भंग कर दी और लाद दी उस पर तरह-तरह की किताबों और मास्टरों की पाठशालाएं।"

ललिता ने बच्ची को जन्म क्या दिया, बच्ची उसके लिए रात-दिन चिंता का विषय बन गई। बच्ची के अंदर उसे न जाने क्या-क्या विषय नज़र आने लगे। वह मन ही मन कहती, 'मैं अपनी बच्ची की पाठशाला खुद बनूंगी और बच्ची को हर काम खुद करने की आज़ादी दूंगी। खाने, पहनने, खेलने और पढ़ने सब की आज़ादी। मेरी पाठशाला में मेरी बच्ची पंछियों की तरह चहकेगी, पशु-पक्षियों की नकल करेगी, कभी पेड़ बनेगी, कभी नदी, कभी संगीत, कभी नृत्य। वह अपनी मास्टर खुद होगी।'

ललिता क्यों सोचती रही ऐसी सब बातें? क्या ऐसा तो नहीं कि वह स्वयं इन सबसे वंचित रही हो? अगर परिवार ने ललिता की सोच में साथ न दिया तो?

"तो क्या हुआ? मैं परिवार की सोच बदल दूंगी।"

"परिवार तैयार नहीं हुआ तो?"

"कुछ करने से पहले ही पराजय या विफलता की आशंका क्यों?"

"अक्सर ऐसा होता तो है न?"

"मैं अक्सर से नहीं चलती। मैं जो कर सकती हूं, वह करके दिखाऊंगी।"

"भले ही परिवार टूट जाए?"

"मेरा काम परिवार तोड़ना नहीं है। मैं उसका एक हिस्सा हूं! परिवार एक पूरे शरीर की मानिंद है। क्या मैं स्वयं को काटकर या परिवार को काटकर ज़िंदा रह सकती हूं! न तोड़ना मेरी आदत है न परिवार को जोड़कर रखना चुनौती। सब कुछ सामान्य है, फिर असामान्य बात या अनचीते डर में क्यों जिऊं?"

"ललिता का मां होना—स्वयं का एक प्रश्न होना है। बच्ची का होना एक दूसरा प्रश्न है। परिवार का होना तो प्रश्न ही प्रश्न है लेकिन ललिता का विश्वास है कि उसका ललिता बने रहना हर प्रश्न का उत्तर है। प्रश्नों से प्रश्न कितने भी पैदा हो जाएं, जब तक ललिता है, वह हर वक्त उत्तर बनकर ही खड़ी होगी—ऐसा उत्तर जो उसका तो हो ही साथ ही उन सब प्रश्नों का भी हो जिनके बीच यह जीती है और आगे जीना भी है।"

बच्ची बड़ी होने लगी। ललिता की मेटरनिटी लीव का समय समाप्त होने को आया। पति ने भी, जो पत्नी के लिए पेटरनिटी लीव ली थी, वह खत्म हो चुकी थी। अब ललिता के सामने प्रश्न था कि ड्यूटी ज्वाइन करनी है, बच्ची को घर छोड़कर जाना होगा। वैसे तो सास-ससुर भी बच्ची को बहुत प्यार करते हैं। वे लड़की और लड़के में भेद करते ही नहीं। मगर बार-बार पोतड़ी बदलना, सफाई करना, दूध पिलाना, रोये तो कंधे पर रखकर दिनभर गुनगुनाते हुए उसे सुलाना, झोली में डालकर झूले देना—यह सब काम बूढ़े सास-ससुर कर तो देंगे खुशी-खुशी, मगर आखिर उनकी भी उम्र हो गई है। कितना कुछ करेंगे? क्यों न एक दाई रख ली जाए? या फिर झूलाघर में डाल दूं?

ललिता ने पति के आगे समस्या रखी।

पति ने दाई का प्रस्ताव खुशी-खुशी मान लिया। मगर यह भी कहा कि मम्मी-पापा से भी पूछ लिया जाए।

पहली बार ललिता के मनोविज्ञान को एक धक्का लगा। उसमें यह हिम्मत नहीं आ पा रही थी कि वह मम्मी-पापा के सामने ऐसा प्रस्ताव रखे। उसने पति से कहा, "चलो दोनों चलकर उनसे पूछते हैं।"

दोनों गए। मम्मी-पापा के पास ही बच्ची गुदड़ी पर लेटी-लेटी हाथ-पैर चला रही थी। बीच-बीच में कभी सबके चेहरे देखकर तो कभी रोशनी या रंगीन कपड़े देखकर ऐसे मुस्करा देती जैसे उसे लग रहा हो कि ये सब कितने अच्छे हैं और सबके

सब उसके हाथों में आ जाएं तो वह उन्हें भी अपनी नन्हीं-नन्हीं मुट्ठियों में दबा ले और चूसने लगे।

"मम्मी! कल से मेरी छुट्टिया खत्म हो रही हैं। ड्यूटी पर जाना होगा!"

"यह कौन-सी नयी बात है, पहले ड्यूटी पर नहीं जाती थी क्या?"

"लेक़िन पहले और अब में अलग बात है न?"

"सीधे-सीधे क्यों नहीं कहती कि तू जब नहीं होगी, तो बच्ची का क्या होगा? अरे पागल, मैंने भी अपने पांच बच्चे पाले हैं, जब पांच पाल सकती हूं, तो यह एक नहीं पाल पाऊंगी?"

"नहीं मम्मी, यह नहीं कह रही! तब आपमें काफी ताक़त थी। अब बुढ़ापा है! आप और पापा तो दिनभर इसे संभाल-संभाल कर परेशान हो जाएंगे।"

"तेरा मतलब है अब हम बच्चे पालने के लायक नहीं रहे!"

"लायक तो आप हम सबसे ज़्यादा हैं, मगर हमें आपका भी ध्यान रखना है न!"

"तो, तुम्हारा मतलव कोई दाई या आया रखोगी? या झूलाघर में रख दोगी?"

"इसमें काई हर्ज़ है क्या?"

"हर्ज़ तो नहीं! मगर दादी से बढ़कर कोई आया है तो ज़रूर रख लो!"

अब इस प्रश्न का ललिता क्या जवाब देती? ललिता ने सास के पैर छू लिए और उसकी आंखों से टप़-टप आंसू गिरकर सास के पैरों को पखारने लगे।

पापा बीच में बोल पड़े, "देखो, ललिता बेटा! यह तुम्हारा बूढ़ा ससुर कहो या बाप—है न, यह है पुराना संगीत मास्टर। मैं एक काम में माहिर हूं। बच्चों को झोली में डालकर मैं जब भी सुलाता था और झूले देता जाता था तो गा-गाकर उनसे कहता था, 'सुनो बेटी, सुनो बेटे—यह राग पूर्निया है, यह बागेसरी, यह कैफ और रागों के साथ उनको दुलार-दुलार कर सुला देता था।' क्या तुम ऐसा ही अब मेरी इस मोहिनी बेटी के लिए नहीं करने दोगी?"

"तो, पापा आज आपने बच्ची का नामकरण भी कर ही दिया?"

"क्या? क्या मैंने कोई नाम बोला?"

"बोला हो या न बोला हो। आज से यह मोहिनी आप दोनों के हवाले!"

ललिता बच्ची को उठाकर चली, कमरे में जाकर आंचल से ढंककर दूध पिलाया! दूध पीकर बच्ची हाथ-पैर हिला-हिलाकर खिलखिलाने लगी। ललिता बच्ची

के चेहरे में बार-बार अपना चेहरा देखती, फुसफुसाकर कहती, "मेरी प्यारी गुड़िया! मेरी जान! मेरी रोशनी! मेरी मोहिनी!"

पति ने कहा, "बस-बस बहुत कर लिया लाड़! मेरे हिस्से में भी कुछ रहने दोगी या नहीं?"

"अच्छा तो बच्चे में हिस्सा मांगने लगे? क्या मेरी मोहिनी कोई प्रॉपर्टी है जिसका हिस्सा मांग रहे हो?"

"अरे असली प्रॉपर्टी तो तुम हो जिसका सबसे कीमती हिस्सा है मोहिनी!"

"चलो रहने दो। पालोगे तब पता चलेगा! इसे अगर तुम जनते तो नानी याद आ जाती! मां बनने के लिए स्त्री को खुद को कितना खाली करना पड़ता है, तब जाकर कहीं मां-पन आता है!"

"कहती तो ठीक हो! लेकिन ऐसा नहीं कि मुझे इसका अहसास नहीं! मैंने तो तय कर लिया है मोहिनी को देखकर?"

"क्या तय किया?"

"बस मोहिनी, मोहिनी और मोहिनी, दूसरा कोई नहीं।"

इस बीच पापा ने देहरी पर खड़े होकर आवाज़ लगा दी, "अरे भाई तुम दोनों ही वच्ची को चिपकाए रहोगे या मेरी भी संगीत क्लास शुरू होने दोगे?"

ललिता ने मोहिनी को पापा के हाथों में रख दिया।

पापा ने मोहिनी को चूमा और बोले, "ले सुन, यह है राग पूर्निया।"

अस्थियों का बंटवारा

"मृत्यु एक शब्द भर नहीं, शब्द के अंदर कई शब्द! कई शब्द के अंदर कई अर्थ। नहीं, नहीं! एक ही शब्द के अंदर कई अर्थ!"

"आखिर मनुष्य मरता क्यों है? अगर उसे मरना है तो फिर वह जन्मा क्यों?"

"बिना जन्म के मरा भी तो नहीं जा सकता!"

"दूसरों की मौत जब-जब सुनता हूं, न जाने क्यों मेरे मन में एक डर उतर आता है। जानता हूं—मौत तो आएगी। फिर भी ऐसा क्यों होता है कि हर किसी की मौत में, अपनी मौत की आहट सुनने लगता हूं!"

"अब देखो न, नब्बे साल की मां अभी-अभी चल बसी। मुझे लगा, जैसे कह रही हो, 'जा रही हूं बेटा! तुम्हें भी जल्दी बुला लूंगी'!"

"नहीं, नहीं! कोई मां अपनी संतान को इस तरह बुलाने को नहीं कह सकती! संतान अपने बूढ़े मां-बाप के मरने की भले ही सोचती रहे, लेकिन मां-बाप कभी नहीं चाहते कि उनकी संतान कभी मरे!"

"अरे यह क्या हो गया मुझे? मां की मौत के साथ यह बुरे-बुरे ख़्यालों का अंधड़ कहां से उठ खड़ा हुआ? क्या मृत्यु मनुष्य को सोचने के लिए इतना विवश कर देती है? ज़िंदगी को कितने भी साहस के साथ जिया जाए...मौत का एक थपेड़ा ज़िंदगी को हिलाकर रख देता है।"

ठाकुर सोमभद्र सिंह के दिमाग़ में इस तरह के सवाल गूंजते रहे। जिस आदमी ने ज़िंदगी को हर रोज़ शराब की तरह पिया, उसके हाथों में आज ज़िंदगी का ही यह जाम अचानक कांपने क्यों लगा? दरअसल शराब में आदमी शराब नहीं मौत का डर ही तो पीता है और कहता है वह पी रहा है ज़िंदगी। कोई कहता है वह अपने ग़म पी रहा है। मगर सच पूछो तो वह अपनी तमाम खुशियों को इस कदर पी जाता है

कि एक दिन खुशियां ही ग़म में बदल जाती हैं। बार-बार ठाकुर सोमभद्र सिंह दार्शनिक बन जाते और स्वयं को ज़िंदगी और मौत का मतलब समझाने लगते। मां क्या मरी, उनका जीवन-मृत्यु-दर्शन उनके सामने आ खड़ा हुआ। कुछ देर के लिए वे भले ही मान गए कि मां मर गई है और लाश छोटे भाई वीरभद्र सिंह के घर के दालान में रखी है जिसकी कल सुबह अंत्येष्टि होनी है, मगर उन्हें लगता था मां की मृत्यु ने उनके अंदर मृत्यु रच दी है।

इस बीच पैरों की आहट। ठाकुर सोमभद्र को लगा जैसे साक्षात् यमराज कहीं उन्हें भी लेने तो नहीं आ रहे। वे भी तो साठ-सत्तर के बीच हैं।

"दादा! जी (मां) तो रही नहीं! अब सवेरे जी का क्रिया-करम करना है। क्या करें, कैसे करें?"

"अच्छा किया वीर, तू आ गया। मैं भी यही सोच रहा था। बैठ जरा सुस्ताले! फिर सोचते हैं, क्या करना है?"

बीस साल पहले पिता की मृत्यु हो गई। सोमभद्र और वीरभद्र में जमकर झगड़ा हुआ। पिता जयभद्र के पास शराब का ठेका था। दोनों बेटे ठेके पर अधिकार के लिए अड़ गए। सोमभद्र ज़्यादा समय पिता के साथ ठेके पर रहते। गुंडागर्दी करने वालों को मारते-पीटते और देसी शराब का ठेका कैसे चलाया जाता है, इसके गुर पिता के साथ रह-रहकर सीख गए। वीरभद्र, सोमभद्र से दस साल छोटे थे। वे पिता और भाई के आज्ञाकारी रहे। देखते रहते थे कि पिता रोज़ थैली भर-भरकर पैसा घर लाते हैं। उधर, सोमभद्र पिता के आय-व्यय का पूरा हिसाब रखते, साथ ही पिता की नकद संपत्ति पर उनकी चील-सी आंखें हमेशा लगी रहतीं। वीरभद्र भी कम नहीं था, दूर ही सही मगर उसकी भी गिद्धदृष्टि पिता की संपत्ति पर लगी रहती थी।

पिता चले गए। संपत्ति पर झगड़ा मचा। दो भाई जो कभी राम-लक्ष्मण कहलाते थे, अब खर-दूषण में बदल गए थे। भाई दो ही थे। बहनें भी दो थीं जो दूर दूसरे प्रदेश में ब्याही थीं। संपत्ति और औरत को लेकर दुनिया में क्या नहीं टूटता। सारे रिश्ते टूट जाते हैं, दोस्त दुश्मन हो जाते हैं। दोनों भाइयों में खूब तनातनी बढ़ी। आखिर दोनों ने ठाकुर-पंचायत बुलाई। पंचायत ने ठेके का फ़ैसला सोमभद्र के पक्ष में किया। ठेके की आय जो पिता के ज़माने में हुई, उसका आधा हिस्सा वीरभद्र को देने को कहा। ज़मीन-ज़ायदाद का भी आधा-आधा बंटवारा हो गया। गांव की हवेली और आधी ज़मीन, शहर का एक बड़ा-सा बाड़ा और तीन मंज़िला मकान भी वीरभद्र

के हिस्से में आ गया। सोमभद्र का ठेके पर कब्ज़ा हो गया। शहर की एक पॉश बस्ती का बंगला, दो फार्म हाउस और गांव की ज़मीन का आधे से कम हिस्सा सोमभद्र को मिला।

दोनों भाइयों ने पंच-फ़ैसला मान लिया। लेकिन दोनों के मन में गांठ पड़ गई।

बंटवारे के बाद वीरभद्र बोले, "जी (मां) का क्या होगा? जी किसके पास रहेगी?"

सोमभद्र बोले, "इसमें क्या अड़चन है, वह छह महीने तेरे पास, छह महीने मेरे पास रहेगी!"

इस पर पंच बोले, "जी से ही पूछ लो न कि वह किसके पास रहना चाहती है।"

जी से जाकर पूछा गया। जी ने छोटे बेटे वीरभद्र को चुना और उसके साथ रहने चली गईं। जी के पास भी कम धन नहीं था। डेढ़-दो किलो सोने के तो जेवर ही थे। मोतियों का हार, हीरे की अंगूठियां, ठुस्सी, बाजूबंद, कंधोरा, न जाने क्या-क्या! सब सौ टंच सोने के। वीरभद्र को राहत मिली! चलो मां के आने से, मां कितनी और कैसी भी आई मगर सोना-जवाहर तो आ गए। वे भी क्या कम हैं!

एक के लिए मां से बढ़कर शराब का ठेका, दूसरे के लिए मां से बढ़कर गहने। मां यानी एक खदान सोने की। मां का आना, स्वयं खदान का घर में आ जाना था। धन कितनी जल्दी मन बदल देता है। सारे रिश्ते क्षणभर में धन के अंदर समा जाते हैं। मनुष्य कितने-कितने चरित्र जीता है अपने अंदर—स्वार्थ के भी, त्याग के भी, संयम के भी, उत्तेजना के भी, देह के भी, आत्मा के भी। रिश्तों को कब, कैसे, खून की जगह खारे पानी का बना दिया जाता है—कुछ कहा नहीं जा सकता। मां अगर सोमभद्र के लिए बिस्तर पर पड़ी एक बीमार देह थी, जिसकी मौत का इंतज़ार करते-करते, शायद उसे रात-दिन मरना-खपना पड़ता, तो वीरभद्र के परिवार के लिए मां एक तिजोरी थी, जिसकी चाभी वीरभद्र खुद था। वह बिस्तर पर पड़ी बीमार देह न होकर तिजोरी की आत्मा थी।

"अरे, अरे! यह क्या हुआ? मां की लाश वीरभद्र के बरामदे में पड़ी है, और यहां यह धन-पुराण शुरू हो गया।" सोमभद्र बोलने लगे।

दोनों भाइयों का अबोला जब टूटा, जब मां का बोलना बंद हो गया।

"वीर जाकर दोनों बहनों को अजमेर और उदयपुर फोन कर दे। मैं भी कोशिश करता हूं। अब जी का दाग़ तो सवेरे ही होगा। नाते-रिश्तेदारों को भी ख़बर करनी है। आस-पास ठाकुरों का गांव है। पूरी जात-बिरादरी को भी बताना पड़ेगा वरना बाद में वे उलाहना देंगे। गांव में ख़बर भेज दो। बाबू नाई से कह देना, गांव में ख़बर कर आएगा। मेरे फार्म हाउस पर चंदन के पेड़ हैं कालू से कहना, चंदन की लकड़ी ले आए। एक-आध डिब्बा देसी घी का ले लेना। मां की देह उठाई ऐसी हो कि सारी जात देखती रह जाए। बाजे भी बुलवा लेना।" तरह-तरह के हुक्म देकर वीरभद्र से सोमभद्र ने कहा, "फ़िकर मत करना, खर्च आधा-आधा बांट लेंगे।"

वीरभद्र जाने को था कि फोन की घंटी बजी। फोन पर थानेदार मुख़्तार सिंह बोल रहे थे। कह रहे थे, "ठाकुर साहब! शाम को बड़े साहब तशरीफ ला रहे हैं। पार्टी तो होनी है। माल तो रखा ही होगा। साथ कुछ और लोग होंगे। दो-एक बोतल स्कॉच हो तो ठीक रहेगा। खाने का इंतज़ाम तो डाक बंगले पर हो ही जाएगा आप जरा खानसामा को इशारा करके बता दें कि क्या और कैसा बनेगा?"

सोमभद्र बोले, "ठीक है, इंतज़ाम तो सब हो जाएगा। मगर इस बार पार्टी में मेरा शामिल होना मुश्किल है।"

"क्यों, ऐसा क्या हो गया? आप तो हर वक्त पार्टी की शान होते हैं।"

"ठीक है, मगर बात यह है कि...!"

"नहीं, नहीं! बात कुछ नहीं। आपको आना होगा। आपके लिए कोई मुश्किल, मुश्किल नहीं।"

"नहीं भाई, सुनो तो सही...!"

"मुझे कुछ नहीं सुनना। पार्टी आपकी तरफ़ से और आप नहीं? साहब की शान में कोई गुस्ताखी नहीं होगी।"

ठाकुर सोमभद्र अब करें तो क्या करें। साहब के साथ मज़ा करें या मां की मौत का मातम मनाएं। मौत भी क्या चीज़ है, सारा मज़ा छीन लेती है। अगर पार्टी में न गया, साहब लोग नाराज़ और उनकी नाराज़गी यानी ठेके पर ख़तरा। क्या करूं?

मेरा ख़्याल है, मैं दोनों काम एक साथ कर सकता हूं। दाग़ तो कल होगा। साहब आज शाम को आ रहे हैं। गाड़ी के शीशे बंद करके जाऊंगा और साहब को सारी बातें बताकर आ जाऊंगा। उधर साहब की भी सध जाएगी, इधर मां का मातम भी सध जाएगा।

सोमभद्र ने थानेदार से कहा, "ठीक है, आपका इतना इसरार है तो आ जाऊंगा। दिल पर पत्थर रखकर आ रहा हूं। साहब को सलाम करके लौट आऊंगा और वहीं तमाम हालात भी बता दूंगा।"

सोमभद्र के मन में दो-तरफ़ा डर अपने डैने फैलाकर फड़फड़ा उठा। न जाए तो साहब की नज़र का खौफ़, जाऊं और पता चल गया तो पूरी जात-बिरादरी में थू-थू। क्या करूं। कह दिया है तो जाना तो पड़ेगा ही। थानेदार ही खफ़ा हो गया तो ठेके के ये रात-दिन के झगड़े कौन संभालेगा? बस महीने के महीने एक लिफाफा ही तो भेजना होता है, बदले में कितनी हिफ़ाज़त करता है ठेके की! ठेका और थाना साथ-साथ न हों तो सारी ठेकेदारी धरी की धरी रह जाए। मरे हुए पर भी इतना क्या सोच-विचार। कोई मां ख़ुद उठकर तो देखेगी नहीं। वीर को भी क्या पता चलेगा। बस गया और पिछले पांव से लौटा।

शाम ढलते ही, जब अंधेरा बढ़ा तो ठाकुर साहब ने खुद ही गाड़ी निकाली। कांच बंद किए और चल दिए डाक बंगले की तरफ।

जाकर दुआ-सलाम की। ठाकुर साहब का मुंह लटका देखकर बड़े साहब ने पूछा लिया, "क्या यार, ठाकुर साहब? आज आप अपनी ठाकुरी रंगत में नहीं? कोई खास बात तो नहीं। लीजिए, मूड ठीक कीजिए। मुखतार सिंह, पैग बनाओ।"

"जी सर!"

मुखतार सिंह ने पैग बनाए, सोडा-बर्फ डाला, सामने नमकीन काजू की प्लेट रख दी, सलाद रख दिया।

साहब बोले, "लीजिए, कीजिए अपना मूड ठीक!"

"साहब! आज माफ़ कर दें तो अच्छा...!"

"अरे जाम पर बैठकर माफ़ी का नाम क्यों?"

"सर! आज कुछ अलग बात है।"

"अलग-वलग कुछ नहीं, लीजिए, कीजिए...चीयर्स।"

ठाकुर साहब ने बेमन से गिलास उठा लिया और सिप लेने की बजाय, एक ही घूंट में पूरा गिलास खाली कर दिया।

साहब देखकर दंग, "आज यह क्या हो गया ठाकुर साहब को?"

शराब गले से उतरते ही ठाकुर साहब का व्यावहारिक ज्ञान जागृत हो गया। सोचने लगे—मौत और ज़िंदगी में अगर इतना ही फ़र्क है तो ज़िंदगी ही क्यों न जी

जाए। मौत के नाम पर ज़िंदगी की क्यों बलि चढ़ाई जाए। मां अब मां ही कहां, वह तो एक लाश भर है जिसे कल सुबह नदी किनारे फूंकना भर है।

इस बीच दूसरा पैग भर दिया गया और ठाकुर साहब उसे भी गटक गए। तीसरा, चौथा और अब ठाकुर लड़खड़ाती ज़बान में उखड़ गए।

''आप लोग क्या मेरी जान लेना चाहते हैं। मेरी सुनते ही नहीं। मेरी मां मर गई है। उसकी लाश वीरभद्र के घर के बरामदे में पड़ी है। सुबह उसकी अंत्येष्टि है ...और आप मुझे पैग पर पैग पिलाए जा रहे हैं।''

ठाकुर साहब जोश में लड़खड़ाते हुए उठे और धम्म से गिर गए।

साहब के इशारे पर सिपाही दौड़ पड़े। साहब ने अपने ड्राइवर से कहा, ''जाओ ठाकुर साहब को घर छोड़ आओ।''

ठाकुर साहब लगभग बेहोश हालत में घर पहुंचे।

ठकुराइन चीख पड़ी, ''यह है आपकी साहिबी। इधर मां मरी पड़ी है, उधर आप पार्टी उड़ाकर आ रहे हैं...। थोड़ी तो लोक-लाज की परवाह की होती। जात-बिरादरी थूकेगी सो अलग।''

ठाकुर साहब को कुछ सुनाई दे तब न। वे बैठक के कमरे में ही लुढ़क गए और सुबह भी ठकुराइन ने पानी के छींटे दे-देकर जगाया।

ठाकुर साहब लाल अंगोछा कंधे पर डाले, धोती पहनकर चल दिए वीरभद्र के घर।

जात जुड़ने लगी। रिश्तेदार आने लगे। एक खुली कार पर मंच सजाया गया। मां को रंग-बिरंगी चादरें उढ़ाई गईं। आस-पास हारों के बंदरवार लगा दिए गए। मां की अर्थी पर हार-फूल चढ़ा दिए गए।

उधर थानेदार मुख़्तार सिंह और बड़े साहब फूलों का एक चक्र लेकर पधारे— मां को चढ़ाया, सेल्यूट किया। ठाकुर साहब की नज़रों में झांका, वीरभद्र को ढांढस बंधाया और ठाकुर साहब से बोले, ''इंस्पेक्शन का वक़्त हो रहा है...चल रहा हूं! किसी तरह की मदद की ज़रूरत हो तो फोन कर देना।''

साहब और सिपाहियों ने फिर से सेल्यूट मारा।

मां की अर्थी उठी। वीरभद्र ने आग की हांडी थामी। ठाकुर साहब ने लड़खड़ाते हुए कांधा दिया। अर्थी गाड़ी पर रखी गई और चल दिए सबके सब नदी किनारे विश्राम घाट पर!

मां को वीरभद्र ने अग्नि दी। पंडित ने घोषणा की कि परसों सुबह आठ बजे अस्थिसंचय होगा। जो आना चाहें, आठ बजे से पहले छोटे ठाकुर की हवेली पहुंच जाएं।

मां की अंत्येष्टि के बाद दोनों भाई दालान में बैठे। आने-जाने वालों का तांता लगा रहा। वीरभद्र ने पूछा, "दादा! अब तेरहवीं का क्या करना?"

"उसमें सोचना क्या? खर्चा तू करे या मैं—दोनों आधा-आधा बांट लेंगे।"

"नहीं दादा, मैं आधा क्यों दूं? मैंने जी को बीस बरस तक रखा। सेवा-चाकरी की। इलाज कराया। दान-धरम कराया। अब मेरी इतनी हैसियत नहीं कि मैं नुक़्ते (श्राद्ध) का आधा खर्चा उठा सकूं!"

"देख, वीर! ठाकुरों का नुक़्ता सबसे बड़ी शान की बात मानी जाती है। कम-से-कम पांच हज़ार लोगों का खाना होगा। तीन दिन तक खाना-पीना चलेगा। खर्चा बहुत बड़ा है। फिर ठाकुरों के नुक़्ते में शराब की कोठियां नहीं रखी गईं सो ठाकुर जीमेंगे नहीं!"

"सुनो, दादा! क्या ज़रूरत है इतना बड़ा नुक़्ता करके पांच-दस लाख फूंक देने की? इससे तो एक हवन करवा दें और सौ बामन जिमा दें और जात वालों से कह दें कि जी खुद नुक़्ते के खिलाफ़ थीं, इसलिए हम भाइयों ने जी की अंतिम इच्छा पूरी करने के लिए नुक़्ता न करने का फ़ैसला किया है।"

"वीर! यह तो ग़लत है। सबके घर तो नुक़्ता खाते रहे, जब अपनी बारी आई तो मुकर गए। दोनों हवेलियों की नाक कट जाएगी। अच्छा, तू आधा मत दे। शराब का पूरा इंतज़ाम मेरी तरफ़ से। बाकी आधा-आधा!"

"नहीं, दादा! मैं तो ज़्यादा से ज्यादा एक लाख दे सकता हूं। इससे ज़्यादा मेरे वश की बात नहीं।"

"ठीक है, तो तू एक लाख का नुक़्ता कर, मैं अपनी हैसियत का नुक़्ता करूंगा। वड़ा ठाकुर हूं न, बिरादरी में टोपी नहीं उछलने दूंगा।"

जात-पंचायत ने दोनों को खूब समझाया...मगर दोनों भाई अपनी ठाकुरी ज़िद पर अड़े रहे।

तीसरे दिन अस्थि संचय का वक्त आ गया। दोनों भाई अपने-अपने मिट्टी के कलश लेकर चल पड़े। अस्थियां चुनी गईं। दोनों अस्थियों के बंटवारे पर भी लड़ते रहे। आखिर कुछ बड़े-बूढ़ों के कहने पर दोनों ने अपने-अपने कलश अस्थियों से भर लिए। दोनों कलश लेकर चल पड़े।

पंडितों ने कहा, "ठाकुर साहब एक मौत के दो श्राद्ध नहीं होते। श्राद्ध तो एक ही होना चाहिए।"

इस पर सोमभद्र बोले, "जब दो भाई अलग-अलग हो सकते हैं तो दो श्राद्ध अलग-अलग क्यों नहीं हो सकते? लो, मैं तो चला हरिद्वार। मां की अस्थियों को मां गंगा के हवाले कर दूंगा।"

वीरभद्र बोला ठीक है, "मां तो मालवा की है। मां का मालवा की मिट्टी से लगाव भी कितना था? क्षिप्रा किनारे के गांव की तो थी ही मां। मैं तो उज्जैन ही जाऊंगा और मां की अस्थियां मां की धरती, मां की प्यारी नदी को ही सौंप दूंगा।"

दोनों ने अपने-अपने कलश उठाए। ठाकुर साहब अपनी गाड़ी में बैठे, वीरभद्र अपनी जीप में बैठा। एक चला हरिद्वार, दूसरा उज्जैन।

गांववाले बोले, "पागल कहीं के!"

भुलक्कड़

बड़ी जोर से चिल्लाए हफ़ीज़ मियां, "अरे बेग़म! कर क्या रही हो किचन में? थोड़ा तो अपने मियां का ख़्याल रखा करो।"

बड़बड़ाते रहे हफ़ीज़ मियां। कभी टेबल पर रखे अख़बार हटाते, कभी डाइनिंग टेबल पर जाते, कभी किताबों के खुले कपाट देखते, कोने-खुचाले सब छान मारे। फिर बौखलाए और ज़ोर से चिल्लाकर बोले, "अरे बेग़म! इतना भी क्या मग़रूर! जरा इस बुड्ढे पर भी तवज्जो दे दीजिए। रहम खाइए, रहम!"

"अरे कौन-सी मुसीबत बरपा हो गई जो इस क़दर चिल्लाए जा रहे हो, मोहल्ले वाले सुनेंगे तो क्या कहेंगे? कहीं कोई नीम-पागल तो नहीं है इस घर में। बोलिए, क्या हुक्म है!"

"अरे बेग़म, आप तो हमारी ज़िंदगी का पूरा ज़िंदग़ीनामा हैं। आप खफ़ा हो गईं तो हमारा तो जीना ही हराम हो जाएगा। हम तो खुद से ही बेज़ार हैं। अब कोई फ़रमाइश करें, मदद की गुहार करें भी तो किससे? आपके अलावा आवाज़ दें भी तो किसे?"

"अच्छा-अच्छा! अब हम पर कोई कशीदागीरी मत कीजिए। जो कहना है जल्दी कहिए। गैस सिम पर करके आई हूं। दूध रख आई हूं। फैल गया तो गैस बुझ जाएगी और जले दूध की बदबू पूरे कमरे में फैल जाएगी।"

"मुसीबत क्या, मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा है हम पर! वह देखो, सुबह-सुबह के दोनों अख़बार आ गए...हिंदी का भी, अंग्रेज़ी का भी। उर्दू का रिसाला भी हाल ही डाल गया है। हमने उठाकर तीनों को करीने से टेबल पर रख दिया। इस बीच हम अपना चश्मा कहीं रखकर भूल गए। अब क्या करें। पढ़ें कैसे? सुबह की चाय पीने में मन ही कैसे लगेगा? अगर चाय की चुस्की के साथ अख़बार की चुटकियां न पढ़ीं तो क्या होगा? बिना चश्मे के हम बिलकुल अंधे ही हो जाते हैं।"

"अच्छा मियां! यह बताओ, मेरा चेहरा तो आपको साफ़ नज़र आ रहा है न?"

"अरे चेहरा क्या, इस उम्र में भी कयामत की चमक है चेहरे पर। खुदा न करे, हमारी नज़र लग जाए, इस आईने को। हम तो इसमें रोज़ अपनी शक्ल देख-देखकर अपने बुढ़ापे का अहसास ही भूल जाते हैं।"

"वाह! क्या शायरी की है। अब शायरी-वायरी छोड़िए। मैं आपका चश्मा एक सेकिंड में खोज दूं तो...?"

"जानता हूं! वह तो तुम ही कर सकती हो। वरना मैं आवाज़ ही क्यों देता? खैर तुमने शर्त रखी हे तो खोज दो...इनाम में सुबह-सुबह चार मीठी-मीठी पप्पियां!"

"हठों?! कैसे बेशरम हो! यह कहते हुए थोड़ा तो दोनों की उम्र का ख़्याल करते मियां!"

"अरे बेग़म, ख़्याल ही ख़्याल में तो हमेशा खोये रहे। तस्लीमा के निकाह के पहले हम किस कदर चुप रहते थे। फिर साहबजादे यूसुफ भी एक अदद बेग़म ले आए और वालिद-वालदा को खुदा हाफिज करके चल दिए अमेरिका! दोनों के बीच चुहलबाजी का वक्त तो अब आया है, दरअसल!" हफ़ीज़ मियां ने बेग़म का हाथ पकड़कर सीने पर रखा, "सुनो बेग़म! सुनो, इस सीने में तुम्हारे मियां का दिल नहीं, तुम धड़क रही हो।"

"अच्छा जनाब, वह देखो किचन से धुआं उठ रहा है। दूध में उफान आ गया है, भागने दो, वरना पूरा दूध जल जाएगा।"

"दूध के उफान की इतनी परवाह और इस बूढ़े के दिल में जो उफान है, उसकी?"

बेग़म भागी, किचन में गैस बंद की। गैस के चूल्हे पर उबलकर गिरा दूध पोंछा और चाय का पानी चढ़ाया।

इतने में फिर आवाज़, "अरे बेग़म! करें तो क्या करें! हमारा चश्मा तो जाते-जाते बता जातीं! क्या आपने अपनी कुरती में तो नहीं दबा रखा है। ज़रा, हमारी शेरवानी भी टटोलकर देख लीजिए।"

"अरे जनाब, इस क़दर बौखलाइए मत! लो, यह लो आपका चश्मा!" बेग़म ने चश्मा मियां के ही चेहरे पर से उतारकर उनके हाथ में दे दिया।

"अरे! तो क्या हम चश्मा पहने हुए थे? यह होता है हाल बुढ़ापे में। सारा घर सिर पर उठा लिया। बगल में छोरा, पूरे शहर में ढिंढोरा।"

चश्मा देकर बेग़म चाय बनाने चली गई। हफ़ीज़ मियां वदस्तूर अख़बार में मशगूल हो गए। बेग़म चाय ले आई, साथ में दो-चार बिस्किट भी रख लाई।

"वाह! भाई वाह! कितना ख़्याल रखती हैं आप। चाय का तो रंग देखकर ही लगता है, इसे देखें या पिएं। पहली ही चुस्की में मीठा-नमकीन स्वाद। एक-एक घूंट सुड़कता हूं तो लगता है ये बेग़म के मिज़ाज के ही दो पहलू हैं।"

"अरे मियां! क्या बात है, आज सुबह-सुबह से ही बड़े शायराना अंदाज़ में हैं आप?"

"क्या करें बेग़म! जब शायरी की रुह सामने हो तो अल्फाज़ बिचारे क्या करें! ज़बान ग़ज़ल कहने को बेकरार हो उठती है।"

"चलिए अब चश्मे की तरह, चाय का कप मत भूल जाइए। वरना चाय के ठंडी हो जाने की तोहमत भी आप हम पर ही मढ़ देंगे।"

"बेग़म! क्या कहती हो! आज तलक हमने क्या कभी कोई तोहमत मढ़ी है आप पर। हम तो यही कहते रहे हैं कि हमारी बिल्किस न होती तो हम तो कभी के इस दुनिया से रुखसत ले लेते।"

"यह क्या, सुबह-सुबह फलसफाना अंदाज़! चलिए चाय पीजिए, चाय!"

हफ़ीज़ मियां चाय सुड़कने लगे। चाय पर हर चुस्की के साथ बेग़म को दाद देते रहे। कप खाली कर दिया, "बस अब तो खुश। मगर ऐसा लगता है आप भी हमारी तरह भुलक्कड़ हो रही हैं। आप तो जानती हैं हमें ऐसीडिटी है। डॉक्टर का कहना है चाय के साथ कुछ खाया ज़रूर करो। आज सिर्फ़ चाय! अब ऐसीडिटी हो गई तो आप जानें!" .

"अरे मियां! चश्मा आंखों पर, ढूंढते रहे सारी दुनिया में। बिस्किट आंखों के सामने। बेचारे तन्हा पड़े-पड़े आपके हाथों का बोसा लेने को छटपटाते रहे। आप अख़बार और चाय में इस कदर मशगूल। अब बिस्किट के तो हाथ हैं नहीं जो वे खुद को उठाते और आपके मुंह में चाय की चुस्की के साथ धंस जाते। अब बताइए भुलक्कड़ आप हुए कि हम?"

बेग़म उठकर किचन के काम में मशगूल हो गईं। फिर बोलीं, "जाइए, सुबह-सुबह जाकर ताज़ा गोश्त ले आइए। आज आपके लिए गोश्त बनाएंगे।"

"अरे वाह बेग़म! आज ये दावतनामा किस खुशी में? अभी तक तो हरी भाजी और दाल, बस इसके अलावा कुछ किया ही नहीं। अब गोश्त! चलो आपकी फरमाइश है तो ले आते हैं, आज दावत हो ही जाए।"

हफ़ीज़ मियां उठे, झपटकर गुसलखाने में घुस गए। नहा-धोकर बाहर आए। धुला हुआ साफ़ सलवार-कमीज पहना, शेरवानी कसी और सुईबाल की

लंबी टोपी पहनी। इतर का फ़ाया बनाकर कान में खोंसा! और चल दिए, हाथ में छड़ी उठाए।

बेग़म देखती रह गईं। गोश्त की दुकान पर जाने के लिए इस क़दर सज-धज क्यों? न झोला मांगा, न पैसे और चल दिए अचानक! मियां भी अजीब हैं! चलो, होंगे कुछ रुपये तो शेरवानी की अंदर की जेब में। मैं अक्सर जब भी वे ऑफिस जाते थे, कुछ रुपये डाल ही देती थी। अगर इधर-उधर खर्च न किए होंगे तो आधा किलो गोश्त के पैसे तो निकल ही आएंगे। वैसे भी गोश्त की दुकान कौन दूर है। अगर वहां जाकर ख़्याल आया तो, या तो वापस आकर पैसे ले जाएंगे या गोश्त वाला पहचानता है उससे बाद में देने को कह आएंगे।

बेग़म गोश्त के इंतज़ार में बैठी रहीं। सब्ज़ी भी नहीं सुधारी। न चटनी बांटी! इंतज़ार करते-करते एक घंटा हो गया, जनाब वापस आए नहीं! दस बजे निकले थे, अब ग्यारह बज गए। आखिर कहां चले गए गोश्त लेने। बेग़म फ़िकर में पड़ गईं। बार-बार दरवाज़े पर जाकर भटकती आंखों से देखने लगीं। मियां नहीं आए! बेग़म कभी दरवाज़ा बंद कर दें, कभी खोल दें। कभी खिड़की से झांक-झांक कर देखें लेकिन मियां का कहीं पता नहीं। अब क्या करें, किससे कहें, खुद कभी गोश्त की दुकान पर गई नहीं। सोचा चलो, आज जाऊं, देखूं मियां हैं कहां?

अचानक दरवाज़े की घंटी बजी। मियां सामने हाजिर।

"अरे मियां इतनी देर! कहां चले गए थे? हमारे तो होश ही उड़ गए थे।"

हफ़ीज़ मियां जोर से बड़बड़ाने लगे, "कोई साला वक्त पर आता ही नहीं। न ताले खुले, न कोई चौकीदार, न चपरासी। सब साले हरामखोर हो गए हैं। न वक्त के पाबंद, न काम-काज में माहिर, न फर्ज़ की परवाह!"

"क्यों, क्या हुआ? जो इस कदर जले-भुने हो।"

"देखिए, बेग़म! अब हमारा गुस्सा और मत बढ़ाइए। हम कल ही कमिश्नर को इत्तला कर देंगे। यह महक़मा ही बंद कर दिया जाए। यहां कोई मुलाज़िम नौकरी का पाबंद नहीं, सिर्फ़ तनख्वाह के दीवाने हैं साले, सब के सब! देखिए बेग़म, हम सच कहते हैं। यह मुल्क़ आज़ाद क्या हुआ! हर कोई आज़ादी की ऐसी-तैसी करने पर तुला है। अगर ऐसा ही चलता रहा तो यकीन जानिए यह मुल्क कभी तरक्की नहीं कर सकता। काम में किसी का अकीदा नहीं, फर्ज़ का कोई पाबंद नहीं। क्या इस तरह चलता है कोई मुल्क?"

"अरे मियां! इतनी सारी बड़-बड़ मेरे आगे क्यों? आप जितने फर्ज़मंद हैं, जितने ईमानदार हैं तो यह क्यों समझ लिया कि बाकी सब बेईमान हैं? तो क्या

गोश्त की दुकान पर जाकर आपको ये सारी बातें याद आईं और आ गए हमें यहां सुनाने को?"

"अरे गोश्त क्या लाता, खाक़! ऑफिस का वक्त हो गया था। तुम जानती तो हो, आज तक क्या कभी एक मिनट भी लैट हुआ मैं? अब आखिरी वक़्त में क्यों लेट होता? मगर ऑफिस के दरवाज़े पर पहुंचता हूं तो हालात ही कुछ और, अजब नज़ारा। मेन गेट पर ही ताला। सन्नाटा पसरा हुआ। हमें लगा ज़रूर आज कोई हड़ताल वगैरह होगी। आज़ादी के साथ सबसे बड़ा हक तो सरकारी मुलाज़िमों को हड़ताल का ही मिल गया है न।"

"तो आपका मतलब है कि वे आज आपके लिए ऑफिस खोलकर बैठते और हफ़ीज़ मियां का इंतज़ार करते कि कब हफ़ीज़ साहब आएं और काम शुरू करें।"

"देखिए, बेग़म! आप मज़ाक मत उड़ाइए। हम ठहरे उसूलों के आदमी। उसूलों के साथ कभी कोई समझौता नहीं करते।"

"ठीक हैं आपके उसूल! मगर मियांजान ये तो बताइए कि इतवार के रोज़ भी क्या सरकारी मुलाज़िम हफ़ीज़ साहब के लिए दफ़्तर खोलकर बैठते? तभी, तो मैं कहूं कि मियां आज इतवार को भी नहा-धोकर, तेल-फुलैल लगाकर, शेरवानी कसकर कैसे चल पड़े गोश्त लेने? ऐसा तो पहले कभी नहीं किया। फिर हमने सोचा मियां कि गोश्त की दुकान पर, या अगल-बगल कोई नूरे-चश्म नाज़नीन ज़रूर रहती होगी, मियां उसकी ही ख़ातिर सज-धज कर दूल्हा बनकर तो कहीं चल न पड़े हों।"

"बस, बस! बहुत हो गया, अब इतना मज़ाक मत उड़ाओ! ये हमारे रिटायर-मेंट के दिन क्या करीब आ रहे हैं, हम रोज़-रोज़ दफ़्तर की फ़िक्र में दुबले हो रहे हैं।"

"तो क्या आपको लगता है, आपके रिटायर होने से दफ़्तर ही बंद हो जाएगा। आपके बाद कोई संभाल ही न सकेगा दफ़्तर को!"

"देखिए, बेग़म! हम ऐसा तो नहीं कहते। मगर सालाना बजट बनाने में हमें जो महारथ है, किसी को नहीं। उंगलियों पर रखे हैं तमाम आमद और खर्च के हिसाब! जब भी बजट की शुरूआत होती है, गए 35 से हम ही तो बजट के वक्त बड़े साहबों के साथ बिठाए जाते हैं। देखना तो सही, हम दिसंबर में रिटायर और उधर जनवरी में बजट की तैयारी। कौन बनाएगा अब बजट!"

"इतने भी फूलकर कुप्पा मत होइए। किसी के जाने से कोई काम नहीं रुकता। कोई न कोई तो हर जाने वाले की जगह ले ही लेता है।"

"हां, इतना तो हम भी मानते हैं, मगर हमारे दफ़्तर में ऐसा होशियार आदमी कोई नज़र नहीं आता, शायद हेड ऑफिस से किसी को बुलवाएं। फिर तो काम चल

जाएगा। बड़े अफ़सर खुद तो कुछ करते नहीं। हम उनके एतबार के आदमी रहे। 35 साल की नौकरी में हमें हमेशा अच्छे काम पर प्रमोशन मिला, तभी तो अब हम चीफ एकाउंट्स ऑफिसर होकर रिटायर हो रहे हैं।''

''रिटायर तो एक न एक दिन हर सरकारी मुलाज़िम को होना ही पड़ता है। आपके साथ क्या नया हो रहा है?''

''ठीक कहती हो! वैसे हमने एक-दो लोग साथ बिठा-बिठाकर ट्रेंड कर दिए हैं। हमें ऐतबार है कि हमारे बाद वे काम की अहमियत समझ लेंगे और कर लेंगे, और फिर हम रिटायर हो गए भी तो क्या! सरकार का नमक खाया है तो सरकारी फर्ज़ तो रिटायर होने के बाद भी निभा सकते हैं। कभी कोई मुश्किल हुई तो हमने कह दिया है मिस्टर गुप्ता से, मिस्टर शर्मा से कि वे हमें याद कर लें। हम फ़ौरन हाज़िर हो जाएंगे।''

''अच्छा मियां, ये तो बताओ! अभी कौन-सा महीना चल रहा है?''

''तुम सोचती हो, हमें इतना भी नहीं मालूम! जानते हैं, दिसंबर आने में अभी तीन-चार महीने बाकी हैं। रिटायरमेंट में तकरीबन चार महीनों का वक़्त है!''

''चार महीनों का या सोलह महीनों का?''

''क्यों सोलह महीने कैसे हुए? आप इस अकाउंट्स अफ़सर के हिसाब को चुनौती दे रही हैं?''

''अच्छा मियां! ये बताओ, यह साल कौन-सा है?''

''लो, ये सुन लो! कैलेंडर रात-दिन आंखों में छाया रहता है। बेग़म देख लो सामने दीवार पर—कैलेंडर पर सितंबर, 2008 टंगा है।''

''तो, आप 2008 दिसंबर में रिटायर हो रहे हैं?''

''जी, नहीं बेग़म! इतनी कमज़ोर याददाश्त नहीं है हमारी! हमें अपनी रिटायरमेंट की तारीख पक्की याद है।''

''तो बताइए न, दिसंबर 2008 ही है न!''

''अरे, बेग़म! क्या हम अपने जन्म की तारीख भी भूल सकते हैं। इसी दिन तो हम पूरे साठ के होंगे!''

''किस दिन, किस साल?''

''कहा न, 31 दिसंबर, 2009 को!''

''तो, फिर करो न हिसाब! रिटायरमेंट के चार महीने बचे हैं या सोलह?''

थानेदार साब

"कहां गए टी.आई.?"

"साब! तफ़तीश पर गए हैं साब।" सिपाही ने सेल्यूट मारते हुए एस.पी. साब को जवाब दिया।

"तफ़तीश पर जाने के पहले क्या रवानगी डाली है रोज़नामचे में?"

"जी साब! ये रहा रोज़नामचा!"

एस.पी. साब ने रोज़नामचा देखा। रवानगी डली हुई थी। थाना क्षेत्र के एक गांव में आदिवासी स्त्री के साथ चार लोगों ने दिनदहाड़े बलात्कार किया था। महिला के पति ने रपट लिखाई थी। चूंकि मामला आदिवासी का था, टी. आई. ने तुरंत कार्यवाही की और चार सिपाही साथ लेकर रवाना हो गए, गांव के लिए।

एस.पी. ने वायरलेस से टी.आई. की स्पॉट जानकारी ली। टी.आई. ने वायरलेस पर ही सेल्यूट मारा और कहा, "सर! मैं स्पॉट पर जा रहा हूं। अभी रास्ते में हूं। आप भी आ रहे हैं क्या?"

"हां, आ रहा हूं। तुम जहां हो, वहीं रुक जाओ।" एस.पी. ने कहा।

"जी, सर! मगर सर! मेरा निवेदन था कि अगर मैं जल्दी पहुंच जाता तो मुलज़िमों की घेराबंदी करने में सहूलियत होती।"

"कहा न, जहां हो, वहीं रुक जाओ! हम पहुंच रहे हैं। साथ चलेंगे। सुना है गांव में तनाव है। ऐसे में एहतियात बरतनी होगी।"

"जी, सर! यहीं सड़क किनारे थाने से दो-तीन किलोमीटर आगे आपका इंतज़ार करता हूं, सर!"

"ठीक है, हम आ रहे हैं!"

करीब दो घंटे हो गए। एस.पी. साब पहुंचे नहीं। वायरलेस भी तलाशा। जवाब नहीं आया। दो घंटे बाद, वायरलेस पहुंचा, "तुम फ़ौरन वापस आ जाओ। पहले कुछ डिस्कशन करना है।"

"जी, सर!" थानेदार ने सिपाही से जीप पलटकर वापस चलने को कहा।

थाने पर पहुंचे। एस.पी. साब थे नहीं। थानेदार ने ड्यूटी पर तैनात सिपाही से पूछा, "क्यों, साहब कहां गए?"

"सर वे वापस चले गए हैं। कह गए हैं शाम तक फिर वापस आएंगे! तब तक आप थाने पर ही रहें।"

थानेदार मन ही मन बड़बड़ाने लगा। क्या ज़माना है, मुस्तैदी से काम करो तो रोक दिया जाता है। न करो तो एक्शन लिया जाता है। शाम तक गांव न पहुंचा, तो क्या होगी तफ़तीश? सारे सबूत ग़ायब हो जाएंगे। अगर मुलज़िम फरार हो गए, तो इलज़ाम उन्हें भगा देने का मुझ पर ही होगा। फिर क्या हथेली लगा देंगे एस.पी. साहब। मगर क्या करें! वे ठहरे बड़े अफ़सर! वैसे भी बड़े अफ़सरों का बिगड़ता ही क्या है! ग़लती उनकी हो तो सज़ा मातहत को, गलती न हो और काम मुस्तैदी से किया हो तो शाबासी एस.पी. साहब को। बदनामी का ठीकरा तो हर केस में थानेदार के सिर पर ही फूटता है।

थानेदार बड़े पशोपेश में। अब करे तो क्या करे? एस.पी. साहब के हुक्म पर अमल करे या थानेदारी की ज़िम्मेदारी निभाए। केस गंभीर है। तफ़तीश ज़रूरी है। महिला का मेडिकल भी होना है। गांववाले भड़क गए, थाना घेर लिया या कहीं कुछ हो गया तो सारे बड़े अफ़सर, नेता मिलकर वर्दी मेरी ही उतरवा देंगे। कोई नहीं पूछेगा कि एस.पी. साहब तफ़तीश रोकने का हुक्म क्यों दे गए थे।

करें तो क्या करें? सिर से टोपी उतारकर टेबल पर रख दी। टेबल पर सिर टिकाकर सोचने लगे। इस बीच टेलीफोन की घंटी बजी!

एस.पी. बोल रहे थे, "सुनिए, मैं अब सुबह आऊंगा। सुबह साथ ही चलेंगे तफ़तीश पर।"

"जी, सर!" अब थानेदार तनाव में! क्यों हुआ ऐसा? लगता है कोई पोलिटिकल प्रेशर है। बलात्कार करने वालों में एक सरपंच का लड़का है, एक लोकल गुंडा, एक लड़का किसी नेता का है और एक लड़का गांव के इंचार्ज बीईओ का है। शायद साहब पर दबाव ज़रूर है। सभी मुलज़िम रसूखदार हैं। ऊपर से फोन खनखना रहे होंगे। मुलज़िम भी गांव से बाहर भेज दिए गए होंगे।

क्या किया जाए? मुझे भी तो नौकरी करनी है। साहब की बात न मानी तो मेरे खिलाफ़ कुछ भी हो सकता है। यह सोचते हुए थानेदार उठे, सिपाही से बोले, "सुनो, मैं घर जा रहा हूं। कोई फोन आए तो मुझे घर पर ख़बर कर देना, या कह देना साब अभी घर गए हैं।"

घर पहुंचे। बड़े तनाव में थे! पत्नी ने पूछा, "क्यों तबीयत तो ठीक है न! क्या तफ़तीश से लौट आए? इतनी जल्दी पूरी हो गई तफ़तीश? कर लिया गिरफ़्तार मुलज़िमों को?"

थानेदार एकदम झल्ला उठे, "क्यों पूछ रही हो ढेर सारे सवाल? क्या तुम कोई डी.आई.जी., आई.जी. या एस.पी. हो, जो तुम भी सवाल पर सवाल दागे जा रही हो?"

पति के थानेदारी तेवर देखकर, पत्नी चुप हो गई! थोड़ी देर बाद पूछा, "कुछ लोगे? चाय, पानी या ठंडा?"

"नहीं, कुछ नहीं। अभी मुझे कुछ देर के लिए अकेला छोड़ दो!"

"तबीयत तो ठीक है न?"

"फिर वही बात! थानेदार तुम हो या मैं?"

पत्नी चिंता से भर उठी, मगर चुप।

दस-पंद्रह मिनट बाद थानेदार साब नार्मल हुए। आवाज़ दी, "सुनो यार! तनाव में था! बदतमीज़ी कर बैठा! बुरा मत मानना।"

"वह तो मैंने समझ ही लिया था! तनाव में तो ऐसा हो ही जाता है। मुझे बुरा क्यों लगेगा? आखिर मैं क्या आपसे अलग हूं? आपका उतरा हुआ चेहरा देखकर जरा चिंता में पड़ गई थी। बताओ न, बात क्या है?"

"सुनो, गांव में एक आदिवासी महिला के साथ बलात्कार हुआ। चार लोगों ने किया। दिनदहाड़े किया। थाने पर रपट आते ही मैं तफ़तीश पर चल पड़ा, मगर एस.पी. साहब ने रास्ते में रोक दिया। वापस आने का हुक्म दे दिया। अब कह रहे हैं—कल होगी तफ़तीश! तब तक क्या ख़ाक होगी तफ़तीश। तमाम मुलज़िम फरार हो जाएंगे। सबूत बिगाड़ दिए जाएंगे। तोहमत लगेगी तो आखिर मुझ पर ही न! एक्शन लो तो एक्शन के पहले ही हुक्म! एक्शन न लो तो एक्शन न लेने के खिलाफ़ एक्शन! अब करूं तो क्या करूं? मामला संगीन है। आदिवासी का है। विधानसभा में उछल गया तो समझ लो, मरा तो बेचारा थानेदार ही न। साहबों का क्या बिगड़ेगा?"

"ठीक कहते हो। अगर मैं कुछ कहूं तो कोई हर्ज़ तो नहीं न!"

"कहो, कहो। शायद कोई हल निकल आए।"

"सुनो, थानेदार तो तुम हो न। वारदात तुम्हारे इलाके में हुई! रपट तुम्हारे थाने में की गई। मुलज़िमों को लेकर नामजद रिपोर्ट हुई। अब, तुम वही करो जो एक

थानेदार को करना चाहिए। एस.पी. साहब थानेदार नहीं हैं। थानेदार की ड्यूटी तो थानेदार ही करेगा।"

'तो, क्या मैं साहब की इज़ाज़त के बिना तफ़तीश शुरू कर दूं? मर नहीं जाऊंगा?"

"थ़ाने में रपट आई। थानेदार का काम है रिपोर्ट पर कार्यवाही। इसमें इज़ाज़त कैसी? हर काम इज़ाज़त से करोगे तो थानेदारी क्या करोगे? यह तुम्हारा अपना फर्ज़ है। इसमें थानेदार सब कुछ है—एस.पी., आई.जी., चाहें तो बाद में जांच कर लें। उन्हें तफ़तीश करने से रोकने का क्या अधिकार है? तुम रोजनामचे में एस.पी. साब के हुक्म का इंदराज कर दो। बाकी बातें लिख दो और रवाना हो जाओ तफ़तीश पर।"

"इतना बोल्ड स्टेप? खा जाएंगे सारे के सारे अफ़सर मुझे! सुबह तक तो मेरा थाने में पता ही नहीं चलेगा।"

"मैं कहती हूं न! जाओ और तफ़तीश करो। अगर मुलज़िम गांव में हों तो फ़ौरन गिरफ़्तार करो। महिला का मेडिकल कराओ। गवाह, सबूत तैयार करो।"

"बात तो तुम पते की करती हो, मगर जानती हो पूरा महकमा मेरा दुश्मन हो जाएगा।"

"महकमे से मुल्क ज़्यादा बड़ा होता है थानेदार साहब! आप मुल्क के थानेदार है। महकमा तो सिर्फ़ आपको हुक्म ही देता है, तबादले करता रहता है। काम तो जनता का करना पड़ता है। यह कहां की थानेदारी है कि गरीब जनता पर जुल्म होता रहे और महकमा निकम्मा बैठा रहे।"

"तुमने तो मुझे चिंता में डाल दिया। मेरे ज़मीर को ही हिलाकर रख दिया! न जाने क्यों लोग सोचते हैं कि पुलिस का कोई ज़मीर नहीं होता। पुलिस कोई पत्थर का बुत तो नहीं है। आखिर वह भी तो इंसानों का ही एक महकमा है।" यह सोच-सोचकर थानेदार फिर पशोपेश में— 'क्या तफ़तीश पर जाऊं, या साहब का हुक्म मानूं!'

पत्नी ने पूछा, "क्या सोचा तुमने? जा रहे हो न तफ़तीश पर? चलो, जल्दी से एक-दो रोटी खाओ और डालो अपनी रवानगी।"

थानेदार साहब अब थोड़े नार्मल हुए बोले, "यार! तुम तो एस.पी. की भी एस.पी. निकलीं। सचमुच ऐसी पत्नियों ने ही तो पतियों के माथे पर तिलक कर उन्हें रण में भेजा होगा। शहीदों की पत्नियां, मांएं, सब ऐसी ही होती होंगी। आज पता चला कि बहादुर एक सिपाही ही नहीं होता, पत्नियां भी होती हैं।"

"अच्छा अब भाषण मत दो, जल्दी से खाना खाओ।"

थानेदार ने भी सोचा, पत्नी ठीक कहती है। थाना मेरा है, इलाका मेरा है। वारदात की रिपोर्ट मेरे यहां हुई है। मेरा पहला काम है मौका-ए-वारदात पर जाऊं, उस महिला की डॉक्टरी जांच करवाऊं। मुलज़िमों को गिरफ़्तार करूं सबूत पुख़्ता जुटाऊं और ज़ल्दी से जल्दी अदालत में चालान पेश करूं! इतने सब काम में एस.पी. साब का रोल है ही कहां! वे विभाग चलाते हैं, थाना नहीं। अब मैं वहीं करूंगा जो एक थानेदार को करना चाहिए या जो कुछ उसका ज़मीर कहे!

उसने तुरंत थाने जाकर अपनी रवानगी रजिस्टर में डाली, शस्त्रों के साथ सिपाही लिए और चल पड़ा, मौका-ए-वारदात की तरफ़।

जीप में थानेदार सिपाहियों को हिदायत दे रहे हैं, "गांव पहुंचते ही आप लोगों को बड़ी ऐहतियात से काम लेना होगा। हो सकता है, गांव में तनाव हों। हालात को देखकर ही एक्शन लेना होगा।"

सिपाही 'जी सर, जी सर' करते रहे।

एक सिपाही ने पूछा, "सर! बहुत देर हो गई है। अब तक तो मुलज़िम फरार हो गए होंगे। उस औरत का भी क्या पता? रसूखदार लोगों की औलादें हैं। पैसा देकर मामला कहीं रफ़ा-दफ़ा न कर दिया हो।"

"कुछ भी किया हो, हमारे पास जायज़ रिपोर्ट दर्ज़ है। हमें तो तफ़तीश हर हालत में करनी है। मुलज़िमों को धर पकड़ना है। स्पॉट का पंचनामा करना है। औरत का बयान रिकॉर्ड करना है। गवाह सबूत सब तैयार करने हैं।" इसके बाद थानेदार साहब चुप हो गए।

थानेदार साहब रास्ते भर सोचते रहे। एस.पी. साहब के कहने के बावजूद तफ़तीश पर निकलना मुसीबत में डाल सकता है। वे मुझे सस्पेंड करवा सकते हैं। मेरे खिलाफ़ अनुशासन की कार्यवाही कर सकते हैं। उधर पत्नी का दबाव, इधर एस.पी. का हुक्म। पत्नी ने गलत तो कुछ नहीं कहा। आखिर वह भी एक औरत है। औरत का दर्द एक औरत से ज़्यादा कौन जान सकता है? राजनीति और गुंडों ने मिलकर इंसानों को हैवान बना डाला है। एक्शन लो तो राजनीति और नेता हावी, न लो तो पूरे समाज पर गुंडे हावी। अब पुलिस करे भी तो क्या करे! ज़मीर शब्द की तो धज्जी ही उड़ाकर रख दी है बड़े अफ़सरों, नेताओं और गुंडों ने मिलकर। मैं जानता हूं, मैं भी कोई दूध का धुला नहीं हूं, मगर मैंने आज तक कभी किसी गरीब को नहीं सताया। उनके खिलाफ़ जब भी कोई जुर्म हुआ मैंने मुस्तैदी से कार्यवाही की। मगर हुआ क्या! मुझसे

सारे जूनियर ए.एस.पी., डी.एस.पी. हो गए और मैं अभी भी गांव के थाने में ही पड़ा हूं। सोचते-सोचते गांव आ गया।

गांव में भीड़ जमा थी। लोग चिल्ला रहे थे— 'गिरफ़्तार करो, गिरफ़्तार करो। पुलिस कहां है?' आदिवासी औरत के आदमी को लोग समझा रहे थे...चलो हमारे साथ...हम सब तुम्हारे साथ हैं। दो-दो वारदातें हो गईं और पुलिस अब तक नहीं। थाने में न सुनी गई तो कलेक्टर से मिलेंगे, एस.पी. से मिलेंगे, विधायकजी से मिलेंगे। तुम्हें इंसाफ़ दिलवाकर रहेंगे।

भीड़ के पास जाकर जीप रुकी। थानेदार डंडा लहराते हुए भीड़ चीरते आगे बढ़े। देखते हैं एक औरत की लाश?

थानेदार ने औरत की लाश को उठवाकर जीप में डलवाया। पंचनामा बनवाया। दो सिपाहियों से कहा, "तुम जाकर मुलज़िमों को तलाशो। मैं लाश को पोस्टमार्टम के लिए ले जाता हूं।"

एक सिपाही बोला, "सर! अब तक तो सारे मुलज़िम भाग गए होंगे या भगा दिए गए होंगे।"

"जानता हूं, मगर मैंने जो कहा वही करो। मुझे पता है कहां है मुलज़िम। मैं भी जाकर खोजता हूं।"

शाम का वक्त था। दिन डूबने को था। जीप को तेजी से दौड़ाते हुए थानेदार सबसे पहले एस.पी. साब के बंगले पर पहुंचा। मैडम ने जवाब दिया क्लब में गए हैं टेनिस खेलने।

थानेदार ने जीप मोड़ी और सीधे क्लब में। एस.पी. मैदान से बाहर निकले। क्यों, क्या बात है? तफ़तीश पर तो सुबह चलना है न! ठीक है मैं आता हूं। वे गेम पूरा करने के लिए गए। फिर खेलने लगे।

थानेदार ने सोचा, अब मुझे अपने ज़मीर से ही काम लेना होगा। खेल खत्म हुआ। थानेदार ने कहा, "बैठिए, जीप में!"

एस.पी. जीप में चढ़े। देखते हैं, खून में लथपथ एक औरत की लाश! बोलते हैं, "अरे...यह क्या?"

थानेदार ने एस.पी. से कहा, "मिस्टर वर्मा, यू आर अंडर अरेस्ट!"

उसने कुछ नहीं कहा

उसने एक पत्थर फेंका। पत्थर जा गिरा ताल में। डूब गया। मैंने देखा! सोचा! क्यों फेंका पत्थर उसने? वह जानती थी फेंका हुआ पत्थर लगेगा नहीं किसी को। डूब जाएगा यों ही, पानी में। न कोई मछली मरेगी, न केंकड़ा, न कछुआ और मगर का तो सवाल ही नहीं उठता।

मैंने फिर छपाक की आवाज़ सुनी। फिर एक पत्थर! अब की बार पत्थर कुछ भारी था। पत्थर से पानी काफी ऊंचा उछला था। पानी ही उछला था, पत्थर नहीं। पानी में फिर डूब गया। कितनी जल्दी डूब गया, यह देख नहीं पाई वह।

मैं खिड़की के पास बैठा तीसरे पहर का यह दृश्य एक अजीब जिज्ञासा से देखने लगा। उसका ध्यान कहीं नहीं था। बस पत्थर, ताल और पानी के सिवा। अब वह ताल के बिलकुल क़रीब चली गई। किनारे एक कपड़े धोने की शिला पर बैठ गई। छोटे-छोटे कंकर उठाकर फेंकने लगी। पानी में गोले बनने लगे। वह पानी के गोलों को बनते और पुनः पानी को एकाकार होते देखती रही।

मैंने अपनी डायरी निकाली। डायरी में सुबह से दोपहर तक की कुछ दैनंदिन बातें लिख चुका था। तीसरे पहर का यह नज़ारा अलग था। मैं लिखने बैठ गया। कितने पत्थर फेंके। कैसे डूबे? पानी कैसे उछला? वह शिला पर बैठी। कंकर फेंकें पानी में गोले बनाए। सब लिख गया। सोचने लगा, देखूं आगे क्या करती है! जो-जो करती जाएगी लिखता जाऊंगा।

अब कुछ देर वह थमी। उसने पानी में झांका! पानी में चेहरा देखा। उसने कहा अच्छा तो मैं ऐसी हूं? फिर अपने आपसे शायद कहा, अरे पानी में चेहरा क्या देखना। पानी और दर्पण में चेहरे टिकते थोड़े ही हैं। वह शायद खुद पर कुछ व्यंग्य के साथ मुस्कराई। उसने फिर पानी में झांका। चेहरा वैसा ही था—न काला, न गोरा, न सांवला! मन ही मन कहने लगी, पानी में चेहरे का रंग नज़र क्यों नहीं आता? देखो न मेरा तो अंग गोरा है, फिर पानी में चेहरा गोरा क्यों नहीं दिखता? शायद

पानी में चेहरा पानी के रंग का हो जाता हो। पानी जैसे-जैसे हिलता, चेहरा हिलने लगता। उसने अपनी पूरी देह पानी पर झुका दी। उसे लगा उसकी पूरी देह लहरों की झोली में झूल रही है। उसके अंदर भी लहरें समा गईं। वह अंदर से बाहर तक थरथरा उठी।

मैंने यह सब भी डायरी में लिख दिया।

अब उसने पानी में पहले एक पैर डाला। पैर टिकाया। पानी की थाह ली। पानी गहरा न था। फिर उसने दोनों पैर डाले! पानी उसकी पिंडलियों तक था। उसने अपने कपड़े ऊपर किए! उन्हें कमर में खोंसा! नीचे झुकी! मुंह पर बार-बार खूब छींटे मारे! रगड़-रगड़ कर चेहरा साफ़ किया। फिर पानी में निहारा और जोर से खिलखिलाकर हंस पड़ी! पता नहीं क्यों? शायद पानी में धुले हुए चेहरे और बिना धुले चेहरे में कोई फ़र्क ही नहीं रहा! मैंने सोचा, कह रही होगी! काश दुनिया पानी की तरह होती जिसमें चेहरा हमेशा एक जैसा दिखता। अब वह पानी में अपना शरीर देखने लगी। झुकी तो ऐसा लगा मानो उसके उरोज पानी को छूने के लिए लालायित हैं। आंखें पानी के अंदर से बोल रही हैं। ऐसा लग रहा था जैसे पानी उसे निहार रहा हो। मुझे लगा रूप को पुरुष ही क्या प्रकृति भी निहारे बिना नहीं रहती।

मैंने उसकी हर हरकत नोट कर ली। मुझे नहीं पता मैं क्यों उसकी इन हरकतों को देखने में मज़ा लेता रहा। वह तो शायद यह भूल ही गई थी कि उसे कोई देख भी रहा होगा। वह पानी में मटकने लगी। हाथ घुमाकर कभी मछली पकड़ने लपकती तो कभी शंख, सीपी खोजती। कुछ भी पकड़ में नहीं आया। उसने माथे पर हाथ मारकर कहा, जा हट!

मैंने सोचा वह कह रही होगी, पानी में कुछ पकड़ में क्यों नहीं आता? इस बीच उसकी कमर में खुसे कपड़े खिसककर नीचे आ गए। पेटीकोट और साड़ी के नीचे का काफी हिस्सा पानी में गिरने से गीला हो गया। फिर उसने, सिर पर हाथ मारा, कहा, हाय यह क्या? बाहर निकलकर नीचे के कपड़े झुककर निचोड़े।

मुंह पर छींटे मारने से ब्लाउज का काफी हिस्सा भीग चुका था। अब नीचे के हिस्से के कपड़े भी भीग गए! बचा बीच का भाग! कहने लगी, इससे तो बेहतर होता नहा ही लेती! पूरे कपड़े भीग जाते तो सुखा लेती! चलो नहा ही लूं। वह ब्लाउज़ के बटन खोलने लगी। बटन खोलते ही उसकी छाती की जवानी बाहर निकलने को बेताब हो उठी। साड़ी आधी भी नहीं खोल पाई थी कि वह एकदम रुकी! फिर सिर पर हाथ मारा, कहा धत्त्! अगर ये सब कपड़े गीले कर लूंगी तो दूसरे हैं कहां जो बदल लूंगी! उसने फिर बटन लगाए, साड़ी ठीक की!

उसने फिर एक पत्थर उठाया, पानी में जोर से दे मारा! पानी बहुत ऊपर तक उछला! वह धत्त् करके चल पड़ी।

मैंने यह सारा दृश्य डायरी में लिख दिया! वह चली गई! मैंने डायरी बंद कर दी! मैंने कहा अब आगे आज कुछ नहीं लिखना। आज की सबसे लाजवाब घटना लिख ली।

अब मैं सोचने लगा, क्यों कर रही थी वह ऐसा? क्या पागल या नीम पागल तो नहीं थी? क्या गांव में लड़कियां ऐसा ही करती हैं? क्या वह दरअसल पानी से खेलने आई थी? पहले तो कभी दिखी नहीं? हो सकता है रोज़ आती हो, मैंने ही देखा न हो! या आज की तरह मैं खिड़की के पास बैठा न होऊं। कहीं ऐसा तो नहीं कि पानी के बहाने मुझे देखने आती हो—सोचती हो मैं खिड़की में उसे ही देखने बैठा होऊंगा।

मैंने सोचा, पागल या नीम पागल तो हो नहीं सकती। ऐसा होता तो पानी से इस तरह नहीं खेलती। कपड़े खोलते-खोलते रुकती नहीं। है तो अच्छे घर की। धुला-धुला चेहरा भी कह रहा था—सुंदरता और शील का रिश्ता क्या होता है? वह अपने अकेलेपन में अल्हड़पन दिखाकर ऐसे चली गई जैसे कोई हवा!

अब मेरे मन पर वह लड़की छा गई। मैंने सोचा पता लगाऊंगा कौन है? कहां रहती है? ऐसा क्यों करती है? कुछ खिसकी हुई तो नहीं हैं? कहीं घर में कोई कष्ट तो नहीं है? घर में कोई है भी या नहीं? वरना जवान लड़की तीसरे पहर अकेली ताल पर इस तरह क्यों आती? क्या मां-बाप नहीं जानते? मां-बाप होते तो बाहर जाने को मना करते! कुछ न कुछ तो है ज़रूर, पता लगाऊंगा। एक अजीब किस्म का कैरेक्टर लगता है। इस छोटे-से गांव में भी क्या-क्या नयी चीज़ें देखने को मिल जाती हैं!

मैं तो गांव में छुट्टियों में आया था। साल में दो ही बार तो आया। पहला साल ही तो है यह। मगर जीवन में यह दृश्य पहली बार देखा। ताल पर मैं भी जाता हूं, लोगों को नहाते-धोते देखता हूं—बच्चों को पानी में खेलते देखता हूं...मगर, यह सब तो सुबह के वक्त ही होता है। तीसरे पहर तो ऐसा कभी नहीं देखा।

मैंने फिर अपनी डायरी निकाली। डायरी में कुछ एक्स्ट्रा पन्ने जोड़े। अब मैं अपने मन की हलचल लिखने लगा। मुझे लगा जैसे मेरी डायरी एक ताल हो जिसमें वह पत्थर फेंक रही हो और डायरी में लिखे शब्द छपाक के छींटों की तरह डायरी में उतर आए हों। मैंने फिर सोचा, डायरी में लिखे ये वाक्य कुछ जमे नहीं। मैंने कहा डायरी नहीं मेरा दिल है एक ताल, जिसमें वह अपनी जवानी के कंकर मार-मारकर

गोले ही गोले उठा गई। जाते-जाते भी...उसने पूरी जवानी ही एक ढेले की तरह मार दी। देखो न दिल के ताल की लहरें छपाक के साथ कितनी ऊंची उठ गईं?

शाम हो चली थी। इस समय उसे खोजना ठीक नहीं लगा। खोजता तो पता चल जाता! पांच-सात हज़ार की आबादी का गांव है। कुल मिलाकर कच्चे-पक्के, झोंपड़े सब एक हज़ार होंगे। गांव का ताल गज़ब का है। कहते हैं चार-पांच सौ साल पुराना था! गुलाब सिंह के नाम से इस ताल को गुलाब ताल कहते हैं। पानी के लिए कुएं और हैंडपंप है—मगर आदमी, जानवर सबके नहाने-धोने के लिए बस यही ताल है, और गर्मियों में तो यह आधे से ज़्यादा सूख भी जाता है लेकिन ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ कि यह पूरा सूखा हो! भीषण से भीषण सूखे में भी आधा ताल तो ज़िंदा रहा ही। मैं गांव में सिर्फ़ एक साल से ही आ रहा हूं। पिताजी ज़िंदा थे तो आने ही नहीं देते थे। सब काम नौकर-चाकरों से चला लेते थे। शहर में बड़े वकील माने जाते थे न।

पिताजी कभी-कभी ताल के किस्से सुनाते। बताते थे कि ताल के ज़िंदा रहने का कारण क्या है? बारिश के पहले हर साल गांव के लोग इसकी मिट्टी और तलछट साफ़ करते हैं, वनस्पति निकाल कर फेंकते हैं। मछलियों के बीज डालते हैं। गांव वाले ताल को भगवान मानते हैं। हिंदू-मुसलमान सब ताल के पानी की इतनी इज़्ज़त करते हैं जैसे ताल का पानी गंगाजल या आबे-जमजम हो। ताल ही तो इस गांव की शान है, रौनक है। गांव के एक बुजुर्ग मुनीर मियां शाम की नमाज़ ताल किनारे की मस्जिद में अता करते हैं और पंडित शंकरलाल रोज़ सुबह ताल के मंदिर में सुबह की पूजा करते हैं।

मैं यह कहां खो गया? ताल पर इतना तो कभी नहीं सोचा। मैंने अपनी 25 बरस की उम्र में कभी ताल का इतिहास-भूगोल तो पिताजी से भी उस तरह नहीं जाना, जैसा यह लड़की समझा गई। आज ऐसा क्यों? यह ताल से अचानक रिश्ता क्यों जाग गया? कहीं ताल के बहाने उस लड़की का इतिहास-भूगोल तो नहीं जानना चाहता? मुझे ताल, लड़की और मेरे अपने बीच कुछ-न-कुछ घटता नज़र आया। मगर मैं तो उसे जानता तक नहीं। शायद वह जानती हो मुझे। न भी जानती हो। ताल में पत्थर फेंकने इसीलिए आई हो कि मैं उसे जानूं? इसीलिए सोचता हूं शायद वह मुझे जानती होगी।

अब रातभर ख़्याल आते रहे? लड़की पागल तो नहीं थी? शायद अध-पगली हो! शायद किसी मानसिक तनाव में हो! शायद अपनी जवानी के अल्हड़पन का

अकेले में प्रदर्शन कर रही हो! शायद मुझे लुभाने आई हो। शायद स्त्री और पानी के रिश्ते तलाश रही हो। कितने ही तरह के सवाल 'शायद' मेरे मन में पैदा हो गए, मिट गए। मगर मेरा अपने बारे में 'शायद' यह था कि शायद मैं उस लड़की में किसी न किसी तरह इंटरेस्टेड हो गया था। शायद वह भी मुझमें इंटरेस्टेड हो। वरना ऐसा क्यों करती? मगर उसने मुझे तो कभी इस तरह खिड़की में बैठे देखा न होगा। शायद देखा भी हो और मैंने ध्यान न दिया हो।

सुबह जल्दी उठा, घूमने निकला। ताल के आस-पास घूमा! कई औरतें पानी लेने आईं, कई वहां आकर नहाईं-धोईं। उसकी उम्र की लड़कियां भी थीं! मगर वह नहीं थी! अब मैं गांव में निकला! पूछूं तो क्या पूछूं? किससे पूछूं? नाम-पता कुछ मालूम नहीं! पहली बार देखा! देखने में ग्रामीण बाला जैसी भी नहीं थी! ऐसा भी नहीं था कि शहर की कोई बहुत पढ़ी-लिखी लड़की हो। सोचने लगा, वह गांव में क्यों है? क्या गांव की लड़की है? बाहर से आई है? मेरी तरह छुट्टी बिताने तो नहीं? यहां उसका कौन है? कोई तो ज़रूर होगा। अगर बचपन से यहां आता रहता तो जान लेता किसकी बेटी, बहन है और क्यों आती है यहां?

अजीब बात है! अनजान लड़की से पहचान की यह तड़प कैसी? अब क्या करूं? कैसे खोजूं?

मैं फिर डायरी लिख़ने बैठ गया। लिखने बैठा तो शब्द ठीक से उतर ही नहीं पा रहे थे। किसी चीज़ पर नज़र भी ठीक से नहीं टिक रही थी। बेचैन-सा था। करता तो क्या करता? तीसरे पहर तक बैठा रहा, वहीं, उसी जगह! डायरी का पन्ना खोले। वह नहीं आई। आसमान लटकने लगा। सूरज अपनी आखिरी लाली के साथ ताल में उतरने लगा! आस-पास पेड़ों पर पंछी लौटकर आने लगे, जोर-जोर से चहचहाने लगे!

शाम हो गई! एक गहरी निस्तब्धता ताल के आस-पास छा गई। पंछियों का शोर भी बंद हो गया!

मैंने आज डायरी में यह कुछ नहीं लिखा? लिखने का मन ही नहीं हुआ। यह सब इतना सुंदर और मधुर होकर भी मैंने डायरी में कुछ नहीं लिखा क्योंकि मुझ पर तो उसका सौंदर्य और माधुर्य हावी था। मैं कुछ-कुछ दार्शनिक मुद्रा में स्वयं से पूछने लगा, क्या जवानी का अर्थ ऐसा होता है? शहर की सैकड़ों लड़कियां देखकर तो कभी ऐसा नहीं हुआ? आज क्या बात है जो पूरा मन हिल रहा है।

थोड़ी देर बाद किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी! मां ने जाकर दरवाज़ा खोला। मैं तो खिड़की के बाहर आंखें पसारे शाम को ऐसे देख रहा था जैसे शाम से कह रहा होऊं कि कम-से-कम तू ही उसका पता बता दे। उसे फिर पानी से खेलने बुला दे! मैं भी साथ खेलूंगा!

मां ने दरवाज़ा खोलते ही जोर से कहा, "अरे कंचन! कब आई? अबकी बार बहुत दिन में आई! क्या बात है? भूल गई क्या अपनी चाची को?"

कंचन शब्द सुनते ही मैंने दरवाज़े की तरफ़ देखा! मेरी आंखें फटी-की-फटी रह गईं! अरे, यह तो वही लड़की है! मैंने फिर डायरी में देखा। मैं एकदम हड़बड़ा गया! डायरी में कोई उसकी फोटो थोड़े ही थी। अबकी बार वह घर में आई थी। ताल पर भी तो नहीं थी! शायद घर के ताल में कोई नयी लहर पैदा करने!

यह क्या! सोचा भी नहीं था! कंचन अब सलवार-कमीज पहने हुए थी। कुछ-कुछ मेकअप में थी! दुपट्टा बेतरतीब ढंग से डाला हुआ था। छाती की उठान पर से फिसल-फिसल जाता था। वह पकड़-पकड़ कर बार-बार ठीक कर रही थी। मैं सोचने लगा जवानी में कपड़े इतने लापरवाह क्यों हो जाते हैं? अरे, कपड़े कहां, देह कपड़ों के प्रति लापरवाह हो जाती है।

मां हाथ पकड़कर कंचन को अंदर लाई। एक पुराने मूढ़े पर बैठने को कहा। उसने कहा, 'नहीं चाची! आपके साथ दरी पर ही अच्छा!'

चाची ने पूछा, "क्यों, क्या इम्तिहान हो गया?"

"नहीं चाची।"

"फिर वापस जाओगी?"

"हां, चाची।"

"कब जाओगी?"

"कल चाची।"

"इतने कम दिन के लिए क्यों आई?"

"नहीं चाची! एक हफ़्ते से तो यहां हूं।"

"तो फिर मिलने की फ़ुरसत आज मिली?"

"नहीं, चाची।"

"नहीं, चाची? क्या मतलब?"

"क्या बतलाऊं, चाची! मामा कह रहे थे, अभी पांच-चार दिन बाहर मत जा। कुछ मेहमान आने वाले हैं। बस ताल तक आती, घूमकर चली जाती!"

"तो, आ गए मेहमान?"

"हां, चाची! आकर गए भी!"

"कैसे मेहमान?"

"अरे, चाची! आप तो जानती हैं न, लड़कियों के लिए कैसे मेहमान आते हैं। मां और मामा के कहने पर आए थे। उन्होंने ही बुलवाया था। चले गए तो दम में दम आया। बस, कल जरा खुलकर ताल पर आई थी। खूब खेली पानी के साथ। चाहती थी कि आऊं। मगर कपड़े गीले कर लिए थे। शर्म-सी लग रही थी। कोई देखता तो क्या कहता?"

मां ने उसके कपड़ों की चर्चा के बगैर पूछा, "तो, क्या तेरे लिए आए थे, वे?"

"शायद!"

"तो फिर क्या हुआ?"

"होना क्या था! मां और मामा ने कह दिया! यह लड़की का बी.ए. का आखिरी साल है! परीक्षा होते ही...।" और वह झेंप गई।

"परीक्षा होते ही क्या?"

"अरे, चाची! आप जानती तो हैं, परीक्षा होते ही लड़कियों का क्या होता है!"

"अच्छा, तो तू इसलिए मिलने नहीं आई!"

"यही, समझ लो!"

"तो, चाची के पास आने को भी मना कर दिया था?"

"ऐसा तो कुछ नहीं कहा, मगर शायद मतलब यही था!"

"तो, क्या गोदावरी यह मानती है कि मेहमान आने के कारण तू अपनी चाची से भी न मिले!"

"नहीं चाची, ऐसा नहीं! मां-मामा कह रहे थे, गांव का रिवाज़ है, जवान लड़की को ज़्यादा बाहर नहीं रहना चाहिए! फिर जिस घर में कोई हो...वहां तो...।"

"अच्छा, तो तू जवान हो गई? इसलिए नहीं आई कि यहां कोई है?"

"मगर मुझे क्या मालूम कि कोई है!" उसने कहा, "शायद मामा और मां को पता हो!" वह कुछ झेंप-सी गई, "वे कहते हैं चाची कि तू अब बच्ची नहीं रही।"

"क्या, सचमुच ऐसा लगता है तुझे?"

"शायद!" फिर अपने को संभालते हुए बोली, "मुझे तो नहीं लगता मगर मां, मामा, मामी सबने मिलकर तो मुझे जवान बना ही दिया है न? मेहमानों के आगे तो घोषित कर दिया कि मैं जवान हूं और जवान लड़की न बाहर जा सकती है, न घर में बिठाकर रखी जा सकती है।"

मैं यह सारा संवाद सुनता रहा। डायरी में कुछ नहीं लिखा!

मां ने फिर पूछा, "तो कंचन कल किस वक्त जा रही है तू?"

"मामी कह रही थी दोपहर की मोटर से चली जाना। घंटे भर का तो रास्ता है—पहुंच जाएगी बख़्त पर!"

"अच्छा, तो अब जाते-जाते मिलने आई तू? अपनी चाची से विदा लेने!"

"नहीं, चाची!"

"नहीं, क्या नहीं?"

"बात यह है चाची कि आती तो रोज़ थी! दरवाज़े तक आती और लौट जाती! अंदर आने का मन नहीं हुआ!"

"क्यों ऐसी क्या बात थी? अंदर कोई ख़तरा नज़र आता था तुझे!"

"नहीं, चाची! मगर मुझे लगता था...।" वह आगे कुछ नहीं बोली।

"हां, तो यह बात है! अरे बेटा मदन आया हुआ है न! तेरे चाचा जब से नहीं रहे, बेचारा लड़का पढ़ाई छोड़-छोड़कर साल में दो बार देखने आता है! कोई चीज़ की कमी तो नहीं! खेती-बाड़ी सब मैं देख लेती हूं, मगर वह है कि हरदम अम्मा की फ़िकर में घुला जा रहा है! उसका भी यह आखिरी साल है। वकालत कर रहा है। कह रहा था पास होकर वह भी शहर में वकालत करेगा—फिर मुझे भी साथ ले जाएगा! मैंने कहा, बेटा बूढ़े हाड़ अपनी ही मिट्टी में खपने दे। बाहर ले जाकर अब मिट्टी खराब क्यों करूं। अब बता, तू क्या कुछ खाएगी-पिएगी भी या यों ही बातें करती रहेगी?"

"चाची, एक बात पूछूं! ये मदन आपके बेटे हैं?"

"क्यों, तुझे शक है क्या?"

"पहले तो इन्हें यहां कभी देखा नहीं?"

"तो क्या, अब देख लेना! बड़ा होनहार गबरू जवान है।"

"क्या करूंगी देखकर चाची?"

"अच्छा तो फिर आई क्यों?"

ये क्यों नहीं कहती कि आई तो उसे ही देखने है? (उसने सिर पर धीरे-से हाथ मारकर कहा, धत्त्! पकड़ी गई)। फिर संभलकर बोली, "मुझे क्या मालूम, चाची! आपने ही बताया कि मदन आया हुआ है! मैं तो जानती तक नहीं! मैंने तो आज तक अकेले आपको ही देखा है!"

"तो सुन बेटी! मदन मेरा ही बेटा है! तेरे चाचा शहर में रहते थे! उनके साथ ही रहता था। वे जब तक रहे—मदन को गांव आने ही नहीं देते थे।"

"क्यों, ऐसा क्यों करते थे, वे?"

"अब तुझे क्या बताऊं! तू नहीं समझेगी ये सब बातें! चल तुझे मदन से मिलवा दूं।"

"नहीं चाची! मैं क्या करूंगी मिलकर?"

"बड़ी सयानी बनती है! आई है तो मिल क्यों नहीं लेती?"

"ठीक है।"

वह मां के साथ मदन के कमरे की तरफ़ गई! मदन अबकी बार खिड़की के पास नहीं था! वह दरवाज़े के पास खड़ा था। शायद चोरी-चोरी मां और कंचन की बातें सुन रहा.था।

मां ने पुकारा, "मदन! देख कंचन आई है!"

मैंने कहा, "कौन कंचन?"

मैं चौंक गया और भागकर खिड़की के पास जा बैठा।

"यह देख? यह है कंचन।"

कंचन मुस्कराई! मैं भी मुस्कराया। दोनों हक्के-बक्के से एक-दूसरे को देखते रहे! मां ने कहा, "अच्छा! तुम बैठो, बातें करो! मैं कुछ मुंगोड़े तल कर लाती हूं!"

पत्थर पानी में गिरा! छपाक के साथ छींटे उड़े! वह खिलखिलाकर हंस पड़ी। यह सब याद हो आया, कंचन को देखकर।

इतने में मां आ गई। गरम-गरम मुंगोड़े लिए! मां मुंगोड़े रखकर चाय बनाने चल दी। कंचन बोली, "नहीं, चाची! चाय अब नहीं, मुंगोड़ों के आगे चाय क्या? आप तो यहां बैठिए, थोड़ी देर बातें करेंगे। अच्छा लगता है आपसे बातें करना!"

मां ने कहा, "मुझसे? या...।"

कंचन फिर झेंप गई!

मां ने कहा, "अरे, कुछ मीठा लाना तो भूल ही गई। मूंगफली की बर्फी बनाई है, मदन को बहुत पसंद है न! लाती हूं!" ऐसा लग रहा था जैसे मां जानबूझकर बर्फी का बहाना बना वहां से चली गई!

मां बर्फी लेकर वापस आई! मैं कंचन को देखता रहा और वह नज़रें ऊपर-नीचे करती आस-पास देखती और यह बताने की कोशिश करती कि मुझे नहीं देख रही है। दीवार पर उसकी छाया हिलती तो ऐसा लगता ताल में लहरे उठ रही हों!

मां ने पूछा, "अरे, कंचन कुछ खाया नहीं। दोनों चुपचाप गुमसुम से क्यों बैठे हो?"

मां फिर कमरे से बाहर चली गई। चाहती थी हम बातें करें। मगर वह तो एकदम गूंगी गुड़िया-सी बैठी रही?

मैंने सोचा, चलो मैं ही शुरू करूं! मैंने पूछा, "कहां रहती हो?"

उसने कुछ नहीं कहा।

"शायद, शहर में?"

उसने सिर हिला दिया!

"यहीं, पास या दूर...।"

उसने नज़र ऊपर उठाकर बाहर की तरफ़ आंखें चौड़ी कर ऐसे निहारा जैसे बहुत दूर हो।

मैंने पूछा, "इतनी दूर है?"

उसने सिर हिलाकर समझाने की कोशिश की, नहीं इतनी दूर नहीं! और गर्दन झुका ली!

मैंने पूछा, "मां से मिलने आई!"

"नहीं?"

मैंने पूछा, "फिर क्यों आई!"

उसने मेरी टेबल पर से पेपरवेट उठाया और जोर से तन्नाया। पेपरवेट खिड़की को पार करता पास के तालाब में जा गिरा। ज़ोर का छपाक हुआ, छींटें उड़े, लहरें उठीं और वह शरारती हंसी के साथ एकदम कमरे से बाहर हो गई—धत्त् कह कर।

•

रेल के भीतर

मैं एक रिपोर्टर हूं। देश के सबसे तेज़-तर्रार अख़बार का। मेरा काम है ख़बरें खोजना। खोज में अगर ख़बर नहीं मिली तो खुद ही ख़बर बनाना। बगैर खोजी गई ख़बरें अक्सर बालीवुड में ज़रूर मिल जाती हैं या फिर ऐसी ख़बरों को पैदा करने के लिए सरकारी महकमें भी काफी काफी उपजाऊ हैं। मगर इस बार मैंने एक बड़ी ख़बर खोज ही ली या कहूं कि ख़बर खुद ही अपने आप बड़ी थी। ऐसी ही ख़बरें बड़ी होती हैं इस मुल्क में।

आप पूछेंगे कि क्या मतलब? मेरा जवाब है ख़बर कितनी भी बड़ी हो उसे छोटी कर देने और कितनी भी छोटी हो उसे बड़ी बना देने का हुनर अगर अख़बार के पास नहीं है, तो क्या खाक है वह अख़बार।

मान लो कोई बालिग लड़की अपने प्रेमी के साथ घर से भाग जाए, तो वह बड़ी ख़बर नहीं है तब तक, जब तक प्रेमी-प्रेमिका के मां-बाप या रिश्तेदार उस ख़बर को बड़ा बनाने लायक बड़े न हों। बड़ी ख़बर तब होती है जब किसी जवान लड़की की देह सरेआम दिनदहाड़े रौंद दी जाती है और जनता उसे किसी मदारी के खेल की तरह देखती है और पुलिस घटना के बाद अपना सर्कस दिखाती हुई आती है। ऐसी ख़बर को दबाने का और बढ़ाने का भी हुनर चाहिए, तभी तो मुझ जैसा अख़बारनवीस एक खोजी पत्रकार बन सकता है।

मैं अपना बयान कुछ ज़्यादा ही दे गया। तो हां, संपादकजी, घटना की रिपोर्ट इस तरह है। मैंने पहला वाक्य बोला, जो ख़बर का शीर्षक बनाने के लिए काफी अच्छा था। मैंने कहा, ''ऐसी रेल दुर्घटना जैसी कभी न हुई...।''

मैं मुश्किल से अपना वाक्य पूरा कर ही पाया था कि संपादकजी ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, ''क्या, दो गाड़ियां टकरा गई? क्या गाड़ी पटरी से उतर गई? क्या किसी ने रेल के डिब्बों में आग लगा दी? कितने लोग हताहत हुए? कितने घायल? कितने सुरक्षित बचा लिए गए? घायलों की हालत अब कैसी है? इंजन कैसा है?

डिब्बे कैसे हैं? खिड़कियां और उनके कांच कैसे हैं? सीटों के क्या हाल हैं? सामान का क्या हुआ? सरकार क्या कदम उठा रही है? रेल विभाग क्या कदम उठा रहा है? क्या हमारे संवेदनशील रेलमंत्री या उनके विभाग का कोई मुस्तैद बड़ा अधिकारी घटना स्थल पर पहुंच गया है? क्या कुछ राहत की घोषणा की गई? इलाज का क्या कारण है? अच्छा तो आप स्पॉट पर बने रहिए। मिनट-मिनट की ख़बर देते रहिए। हम आपसे लगातार संपर्क करते रहेंगे। दुर्घटना की जानकारी जनता को देने के लिए फोन नंबर बता दीजिए।''

मैंने कहा, ''संपादकजी, ऐसा कुछ नहीं हुआ। मगर ख़बर है बहुत ही भयानक।''

''अरे भाई, तो देते क्यों नहीं पूरा ब्यौरा? ख़बर मुखपृष्ठ पर जानी चाहिए। मैं चाहता हूं, सूर्योदय के पहले ही ख़बर लोगों के बिस्तरों तक पहुंच जाए। लोग सुबह-सुबह का पहला बाथरूम भी न करें और ख़बर पढ़ें। हाथ-मुंह न धोएं और ख़बर पढ़ें। रात की थकान उतारने की पहली अंगड़ाई भी न लें और ख़बर पढ़ें। अख़बार पकड़कर इस तरह बैठ जाएं कि अख़बार, अख़बार न होकर किसी की सुंदर देह हो। तभी, तो अपना अख़बार सबसे तेज़ होगा न? चलिए दीजिए पूरा ब्यौरा।''

''तो, लीजिए सर! विवरण इस प्रकार है। स्त्रियों का एक कंपार्टमेंट। छोटा दस-बारह सीट वाला। उसमें स्त्री केवल एक है बाकी सब मर्द हैं। वह स्त्री क्या, एक जवान सामान्य-सी दिखती लड़की है। होगी करीब 20-22 साल की। सामने की सीटों पर और उससे कुछ सटे-से 10-15 लोग डटे हुए हैं वहां। लड़की सहमी छुई-मुई-सी कोने में बैठी है। लोग लड़की को निहार रहे हैं, लड़की रेल का फर्श निहार रही है या खिड़की के बाहर झांक रही है।

इस बीच एक मुसाफ़िर आया। होगा अधेड़ उम्र का। खिचड़ी दाढ़ी और अधफटे कपड़ों के साथ दाखिल हुआ। उसने तमाम बैठे लोगों पर नज़रें इस तरह डाली जैसे वह निगाहों से उनकी तलाशी ले रहा हो। लोग थे कि अपनी गप्प में मशगूल। अश्लील हरकतें, हल्के मज़ाक और बार-बार नज़रें घुमाकर लड़की को देखना उनकी यात्रा का मुख्य हिस्सा था। वह नया मुसाफ़िर एक अट्टहासभरी हंसी हंसा। लड़की पर इस तरह नज़र डाली जैसे कोई राक्षस सीताहरण जैसा कोई कांड करने आया हो। उसके लिए सब कुछ आसान था। यहां कोई लक्ष्मण-रेखा भी नहीं थी, न कोई लक्ष्मण था।

वह आदमी झपटा। सारे पास बैठे लोग छिटककर अलग खड़े हो गए। लड़की चीखी। किसी ने नहीं सुनी वह चीख। उसने लड़की के ऊपरी वस्त्र चीर दिए। किसी

ने नहीं देखा वह दृश्य। उसने लड़की के नीचे के वस्त्र खींच दिए। लोग इस कदर ठंडे हो गए जैसे वे रेल के डिब्बे में न होकर किसी रेफ्रीजरेटर में हों। तमाम प्रतिरोध, बचाओ-बचाओ के शोर-शराबे की करुण आवाज़ के बावजूद सब कुछ रेल की धक-धक, छक-छुक की तेज़ गति में समा गया। वह पुंसत्व की ताक़त आजमा रहा था और इधर भारतीय पौरुष की वीरगाथा पढ़ते और सुनते लोग अपनी ताक़त खो बैठे थे। वह होठों, गालों, स्तनों को ऐसे मसल रहा था जैसे वे सब रेशम के कीड़े हों। इधर लोग अपने-अपने बचाव का रेशम बुन रहे थे। बेआवाज़ होती लड़की, बेजान होती लड़की, शिकार होती लड़की की निस्पंद, निरीह और निष्कवच देह पर वह अपनी हवस की कबड्डी खेलता रहा और सब कुछ कर चुकने के बाद अट्टहास भरी हंसी के साथ तमाम बैठे हुए लोगों के पुंसत्व पर थूकता हुआ वह वहशी अगले स्टेशन पर उतर गया। रेल चीखती हुई रुक गई और वह आदमी भीड़ में ग़ायब होकर अजनबी बन गया।

आगे का हाल यह है सर! लड़की फटी-फटी आंखों से उठी। लड़की फटे-फटे वस्त्रों में उठी। लड़की किसी उजड़ी बगिया की मसली कली की तरह अपनी ही देह के झोंके से उठी। प्लेटफार्म पर उतरी। चीख या यों कहें कि अट्टहास भरी भयानक हंसी से हंसी। चिल्लाने लगी। आओ, लोगों आओ। देखो, आज एक नयी रेल? देखो, एक नयी दुर्घटना। भारत की शान इस रेल के साथ एक घटना। घटना नहीं दुर्घटना।

लोग थम गए। लड़की ने खुले स्तन दिखाकर कहा, देखो, इनके साथ घटी दुर्घटना। लड़की ने होंठ और गाल दिखाकर कहा, देखो इनके साथ घटी रेल दुर्घटना। और देख सकते हो तो देखो खोलती हूं पूरी देह चढ़ गया था जिस पर एक पटरी से उतरा वहशी इंजन। देखो, देखो यह क्षत-विक्षत देह।

यह किसी टेलीफिल्म का हारर दृश्य नहीं। टेली ख़बरों की वीडियो-फुटेज नहीं। साक्षात् ख़बर खड़ी है सामने। घटना के चश्मदीद सब हैं, मगर सब अंधे हैं। घटना पर बहस खूब है मगर सब गूंगे हैं। धीमी-सी आवाज़ भी जो चुगलियों की तरह सुन लेते है वे तमाम चीखें सुनकर भी बहरे हैं।

लड़की जैसे-जैसे चीखती, लोग भीड़ की तरह जमा होने लगे। लड़की नाच-नाचकर सब कुछ दिखाने लगी। कुछ लोग उसके पागलपन पर हंसने लगे। कुछ च्च-च-च्च की नकली करुणा का भौंड़ा इजहार करने लगे।

लोगों को लगा वे लड़की के साथ घटी घटना नहीं कोई मनोरम दृश्य देख रहे हैं। गुप्त ढंग से रोज़ उजड़ते जिस्मों की कथा सुनने की बजाय एक सरेआम उजड़ी कथा देख रहे हैं।

''पुलिस आ गई। भीड़ को दुत्कारा, हटाया। लड़की से दारोगा झल्लाकर बोला, ''ऐ लड़की, नाटक मत कर। तमाशा मत बना। चल थाने, रिपोर्ट लिखा या फिर जा अपने घर।''

''सर! अब ख़बर यह है कि लड़की ने रिपोर्ट लिखवाने से मना कर दिया। सर, लड़की ने पुलिस के साथ जाने की बजाय कहा, आपको भी जो करना है रेल में न सही यहां प्लेटफार्म पर कर लो। थाने ले जाकर भी तो वही करोगे।

''दारोगा का दिमाग़ भन्ना गया। लड़की ने तमाशा दिखाना बंद कर दिया। सर, अब आप पूछेंगे, उन लोगों ने क्या किया जो लड़की के साथ मुसाफ़िर थे। सर, वे अगर कुछ कर सकते तो रेल में ही करते न। अब तो वे लोगों को चटखारे ले-लेकर किस्सा सुना रहे हैं।

पुलिस ने कहा, ''चल लड़की, थाने चल।''

लड़की और पुलिस के बीच संवाद होने लगा—

'पुलिस ने कहा थाने चल।'

'लड़की ने कहा, नहीं चलती।'

पुलिस ने कहा, 'चलना पड़ेगा।'

लड़की ने कहा, 'नहीं चलती। क्या कर लोगे। थाना और रेल सब एक जैसे।'

पुलिस ने कहा, 'रिपोर्ट लिखवाओ।'

लड़की ने कहा, 'नहीं लिखवानी।'

'रिपोर्ट तो लिखवानी पड़ेगी, तब जाकर तो तफ़तीश होगी, केस कैसे बनेगा?'

लड़की ने कहा, 'अच्छा तो लिख लो खुद अपने खिलाफ़ रिपोर्ट।'

पुलिस ने पूछा, 'अपने खिलाफ़, पुलिस के खिलाफ़ रिपोर्ट?'

'हां, अपराध तो आपने किया है इसलिए आपके खिलाफ़ रिपोर्ट।'

पुलिस ने कहा, 'लड़की पागल है।'

''सर, लड़की और पुलिस के बीच का यह डॉयलाग तो बॉक्स में रंगीन बॉर्डर के साथ देना अच्छा रहेगा। है न सर?''

''अब ख़बर यह है सर, पुलिस लड़की को थाने नहीं ले जा सकी। रिपोर्ट भी नहीं लिख सकी। सर, लड़की बिलकुल पागल हो चुकी थी। उसने पुलिस की वर्दी पर थूक दिया और ज़ोर से चीखकर बोली, 'यह है मेरी रिपोर्ट। फिर वह बारी-बारी से हंस-हंसकर तमाम तमाशबीनों पर थूकने लगी और कहने लगी, यह है मेरी रिपोर्ट।'

'सर, पुलिस ने रपट बना ली है। एक कॉपी मुझे भी दी है। पुलिस ने रिपोर्ट प्रेस के लिए भी जारी की है। रिपोर्ट इस प्रकार है, सर—

"एक लड़की ने हंगामा किया। लड़की पागल थी। लड़की किसी बड़े धंधेबाज गैंग की सक्रिय सदस्य थी। लड़की लोकल ट्रेन में यात्रियों को देह-व्यापार में फंसाने का काम करती थी। पुलिस कई दिनों से उसकी तलाश में थी। अब पूरे गिरोह का जल्दी ही पर्दाफाश होगा। कई महत्त्वपूर्ण सुराग हाथ लगने को हैं। लड़की बयान से मुकर रही है। डिब्बे के यात्रियों के बयान ले लिए हैं। सभी का कहना है कि पागलपन तो नाटक है, लड़की गिरोह वाली ही है।

सर, रिपोर्ट के साथ पुलिस ने स्पॉट का पंचनामा भी बनाकर दिया है। लड़की के पागलपन की जगह बताई है जहां उसने एक युवक को फांस लिया था।

आला अफ़सरों ने हुक्म दिया है, लड़की को हिरासत में ले लिया जाए। पुलिस दंग है। लड़की ग़ायब है। लड़की की कटी हुई लाश पर रेल का इंजन उसी तरह चढ़ा हुआ है जिस तरह डिब्बे के अंदर एक इंजन अपनी ही कड़ी तोड़कर चढ़ गया था।

अगले दिन तीन रंगों के एक बड़े बैनर के साथ तीन रंगों में ख़बर छपी। अख़बार का हॉकर साइकिल पर जोर से चिल्लाता हुआ निकला—एक सेक्स वर्कर पागल लड़की की रेल दुर्घटना में भयानक मौत।

•

कामायनी उर्फ मल्टीनेशनल मां

"मां! इतनी जल्दी तो तुम्हारे बाल पकने नहीं चाहिए थे," बारह बरस की रुचि ने कहा। इसी बीच ऋतु भी आ गई, "हां, मां! रुचि ठीक कहती है। अगर उमर न पूछी जाए तो तुमको और मुझको मां-बेटी कौन कहेगा। यही कहेंगे कि बड़ी-बहन, छोटी-बहन हैं।"

मां बोली, "बेटी! बाल हमेशा तो काले रहते नहीं। यह बात अलग है कि बाल जरा जल्दी बूढ़े होते हैं मगर बालों के बूढ़े होने से शरीर तो बूढ़ा नहीं होता। उम्र के साथ-साथ ये सब बदलाव तो आएंगे ही। किस-किस बात का ध्यान रखेंगे और कैसे रोकेंगे उम्र के हमले को?"

दोनों बेटियां संजीदा हो गईं। सुंदर और जवान होती लड़कियों को मां के काले, घुंघराले और घने केश उन्हें पकते देखना अच्छा न लगा। सोचने लगीं, मां कितने जतन से संवारती थीं केश! रीठे और दही-नींबू से धोती थीं, शिकाकाई लगाती थीं। मजबूती के लिए हफ्ते में एक बार नारियल और जैतून का तेल लगाकर बालों की जड़ें मजबूत करती थीं। काले बालों में जड़ा मां का चेहरा ऐसा लगता जैसे कोई मोनालिसा की तस्वीर फ्रेम में लगा दी हो।

लड़कियों से मां के बालों का पकना सहन नहीं हुआ। सोचने लगीं, ढेर सारे तेल, डायर काले बालों की गांरटी देते हैं। अब तो मल्टीनेशनल प्रोडक्टस भी आ गए हैं। वैसी काली मेंहदी नहीं, इंपोर्टेड हेयर डायर आजमाएंगे। मां के बालों को इस तरह इतनी जल्दी बूढ़ा नहीं होने देंगे।

इसी बीच ऋतु की नज़र मैगजीन पर पड़ी। वह उठाकर देखने लगी। उसे विश्वास था कि ऐसा हो नहीं सकता कि केश लंबे, घने, मुलायम, काले रखने का कोई-न-कोई विज्ञापन मैगजीन में न हो। पन्ने पलटने शुरू किए और बोली, "देखो, रुचि यह रहा बालों को सदा काले रखने का राज़।"

"ब्यूटी हेयर डायर लगाओ—जुल्फों को जवान बनाओ—तरह-तरह की वनस्पतियों के रस और प्राकृतिक रंग और खुश्बू से भरपूर ऐसा हेयर डायर जो साल में एक बार लगाओ और अपने केश सजाओ। सदा जवान, सुंदर और ताज़ा बने रहने का राज़—ब्यूटी हेयर डायर, स्काय शॉप से ऑर्डर बुक करें—चंद घंटों में डायर घर हाजिर।"

बस दोनों लड़कियों को मिल गया मां के बालों को फिर जवान बनाने का नुस्ख़ा। वे फोन की तरफ़ लपकीं। स्काइ शॉप से बात की और दे डाला एक साथ ब्यूटी हेयर डायर का थोक ऑर्डर।

इसी बीच पापा आ गए। दोनों लड़कियों ने कहा, "पापा कल आपको एक सरप्राइज देने वाले हैं। आप दंग रह जाएंगे।"

पापा पूछते रहे मगर दोनों में से किसी ने कुछ नहीं बताया।

सुबह लड़कियों ने मां के बालों में शैंपू किया। पापा नाश्ता करके काम पर चले गए। अब लड़कियों ने उठाया हेयर डायर और चुन-चुनकर रंग डाले सारे बाल! मां भी दंग! लड़कियां कहने लगीं, "वैसे डायर तो ब्राउन भी आता है, मगर ब्राउन डायर से पता चल जाता है कि केश डाई किए गए हैं, इसलिए ब्लैक डायर ही हमने लगाया। रियली मॉम! ब्लैक इज ब्यूटिफुल!"

मां का गोरा चेहरा काले बालों के बीच चमक उठा।

मां बोली, "सचमुच तुमने तो मेरी उम्र दस साल घटा दी।"

"अरे मां! देखती जाओ, अभी क्या-क्या होता है। ये तुम्हारी भौंहें हैं न इनमें भी कुछ एक बाल सफेद होने लगे हैं। वैसे अगर तुम भौंहें शेव करवा लो तो हम नयी भौंहें ही बना दें।"

मां बोली, "भौंहें नहीं रंगनी मुझे।"

"अरे मां! उसमें डायर थोड़े ही लगाते हैं। ये देखो, इस मैगजीन विज्ञापन में लिखा है— 'अपनी भौंहें नयी कीजिए, भौंहें आंखों की शोभा हैं, चेहरे का निखार हैं। कमान-सी भौंहें गोरे चेहरे पर सोहें। एक पैकेट पर एक पेंसिल मुफ्त! क्वालिटी गारंटीड इंपोर्टेड'।"

ऋतु फटाफट गई और भौंह मेकिंग पेंसिल का पैकेट ले आई। अब मां की भौंहें भी चमचमा उठीं।

इसी बीच रुचि बोली, "ऋतु दीदी, देखो न मां की आंखें बड़ी-बड़ी कितनी सुंदर हैं। पलकों के नीचे ग्रीनिश मेकअप और आंखों में मल्टीनेशनल कंपनी का

ब्लैक लव काजल आंज दो—बस फिर देखों—मां क्या! एक मॉडल लगेगी। सच कहती हूं, दीदी! पापा भी पहचान नहीं पाएंगे।"

मां कसमसा उठी। बोली, "मुझे क्या कोई मूरत समझ रखा है, जो मेरा रंग-रोगन कर रही हो। बस करो मुझे नहीं लगाना काजल-वाजल।"

ऋतु ने कहा, "वह तो मेरे पास ही है, लाना थोड़े ही पड़ेगा। पलकों के नीचे की ग्रीन शेड भी है। तुम देखो तो सही मां! मोहल्ले में निकलोगी तो लोग विश्व-सुंदरी समझेंगे।"

मां ने कहा, "तो, क्या मुझे किसी फिल्म की हीरोइन बनना है जो मेरा इतना मेकअप कर रही हो। अरे खाना, कपड़े, बरतन, झाडू इन सबके बीच तुम्हारा यह मैकअप न जाने कहां उड़ जाएगा। बस करो, मुझे नहीं बनना जवान।"

ऋतु बोली, "अरे, यार मॉम! मान भी जाओ। तुम तो सचमुच हो ही हीरोइन। क्या फिगर है तुम्हारी। ऐसी तो अच्छी-अच्छी लड़कियों की भी नहीं है।"

"हठ...!" मां शरमा उठी, "ऐसी बात करते शरम नहीं आती। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा। दो-दो जवानी की देहरी पर कदम रखती लड़कियों की मां को भी क्या जवानी सूझी। तुम्हारी उम्र है, तुम करो ये सब, मुझे बख्शो बेटा!"

"अरे, मां! हम चाहते हैं सारी दुनिया में हमारी मां सबसे सुंदर हो। मां तो सुंदर होती ही है मगर हमारी जैसी मां! कोई देखे तो लगे ही नहीं कि मां कौन है और बेटी कौन है।"

"अच्छा, मामा-पापा के आने का वक्त हो रहा है।"

"पापा गए साल थाईलैंड गए थे तो बैंकाक से कुछ नैल पॉलिश और लिपिस्टिक लाए थे। जो फाउंडेशन लाए थे और क्रीम पाउडर लाए थे—सच मां वैसा तो अपने यहां मिलता ही नहीं और परफ्यूम तो प्योर फ्रेंच है। एक बार लगाओ तो आठ दिन तक सुगंध आती है।"

अब तो लड़कियों ने मां के हाथ-पैर के नाखून रंग डाले। होंठों की प्राकृतिक लाली को गुलाबीपन की चटख से भर दिया और सिर से पांव तक मां का नखशिख शृंगार कर दिया।

मां कुछ अजीब-सा महसूस करने लगी। उसे लगा जैसे उसके ऊपर एक और औरत की पर्त चढ़ा दी गई हो जिसके नीचे उसकी मूल औरत गायब हो गई है। मां सोचने लगी, तन को सुंदर रखने के इतने साधन? काश! मन को सुंदर रखने की भी कोई कॉस्मेटिक होती।

स्त्री को रूपवान बनाए रखना आखिर ज़रूरी ही क्यों है? आखिर स्त्री की चमड़ी, चमड़ी का रंग, आंख, नाक, कान, केश, नाखून, ओंठ—क्या ज़रूरी है इन पर नकली मुलम्मे चढ़ाए जाएं। स्त्री क्या स्त्री के खालिस रूप में सुंदर नहीं हो सकती?

मां को लगा जैसे इस सारे मैकअप से उसकी देह नयी भले ही हो गई हो, मगर आत्मा मुरझा गई है। उसके अंदर से स्त्री ग़ायब होती-सी लगी और उसे लगा जैसे उसके शरीर में से उसी का कोई फैशन मॉडल बाहर निकल आया हो।

मां खुद में खो गई। सोचने लगी, स्त्री की भी क्या मज़बूरी है। पति उसे सुंदर देखकर शादी के लिए पसंद करता है। प्रेमी उसे सुंदरता के नाम पर प्रेम करता है और अब बच्चे भी चाहते हैं कि स्त्री की देह सतत् शाश्वत सुंदर ही बनी रहे। झुर्रियां मिटाने वाली क्रीम, आंखों में चमक भरने वाला काजल, जुल्फों को लहरदार काला-घना बना देने वाला हेयर डायर, ओंठों को रंगने की लिपिस्टिक और नाखून रंग देने के हर रंग के नेलपॉलिश, जिन्हें दिनों के नाम और साड़ियों के मैच से लगाओ और सज-धज जाओ। क्या नियति है स्त्री की—जैसे स्त्री, स्त्री न हो कोई सजी-धजी दुकान हो या देह, देह न हो कॉस्मेटिक्स की एक प्रदर्शनी हो।

लड़कियों ने मां का कंधा झंझोड़ा और बोलीं, "कहां खो गईं, मॉम! पापा आने वाले हैं। चलो चेंज कर लो। आज तो खाना बाहर खाएंगे और खाने के पहले फिल्म देखेंगे।"

"नहीं, बाबा! न मैं सिनेमा जाऊंगी, न खाना ही बाहर खाऊंगी! कोई देखेगा तो क्या कहेगा—लो देखो देवकी को! देवकी जैसे मेम हो गई। मैं तो शर्म से डूब ही मरूंगी।"

"अरे, मां! तुम भी क्या सोलहवीं सदी में पहुंच गईं। भगवान का दिया यह रूप तो देखने-दिखाने के लिए ही है।" ऋतु ने कहा।

मां फिर अपने में गुम हो गई। उसे लगा, ऋतु की बात में दम तो है। अगर जवानी में मेरे पास रूप नहीं होता तो क्या, ऋतु के पापा मुझे पसंद करते? उस बख़्त तो मुझे किस तरह सजाया-धजाया गया था। तब भी तो काजल, मेंहदी और न जाने क्या-क्या हुआ था? साड़ी तो ऐसी पहना दी गई थी कि साड़ी ही ज़्यादा दिखाई दे रही थी, मैं कम। क्या सिल्क था—कांजीवरम का ठेठ ओरिजिनल। शादी के 18 साल बाद लड़कियां चाहती हैं, तो फिर अपने रूप की दुनिया में क्यों न लौटूं। पहले पति पाने के लिए सजी थी, अब लड़कियों के प्यार की ख़ातिर ही सही।

मां सोचती ही गई। लड़कियां हैं तो होशियार। आजकल के बच्चे बड़े तेज़ होते हैं। वे ज़माने की सायकोलॉजी समझते हैं। आदमी का क्या कब भटक जाए? और रूप का क्या? न जाने किसका रूप, न जाने कब आदमी को भटका दे। न जाने क्यों हर मर्द यही सोचता है कि कितना भी बूढ़ा हो जाए मगर औरत जवान बनी रहे, सुंदर और रूपवान बनी रहे। शायद सारे फैशन का आविष्कार मर्द की हवस से ही हुआ है।

ऋतु ने मां का कंधा हिलाया। मां सपनों की दुनिया से उतरकर लड़कियों की दुनिया में आ गई।

मां तेजी से उठी, सुंदर-सी इंपोर्टेड सिल्क की साड़ी पहनी। टापलेस ब्लाउज़ मैचिंग के साथ पहना।

इतने में ऋतु वह हीरे जड़ा हार ले आई जो पापा कंपनी के काम से जब ऑस्ट्रेलिया गए थे तो ले आए थे।

मां सज-धज कर तैयार। शीशे के सामने खड़ी मां खुद को ही पहचान नहीं पा रही थी। उसे लगा शीशे में तो तस्वीर है, वह किसी मां की तस्वीर नहीं हो सकती। मां ग़ायब हो गई थी और उसकी जगह एक नयी स्त्री खड़ी थी जिसे वह खुद पहचान नहीं पा रही थी। वह कभी खुद को देखकर हंसती, कभी मुग्ध होती तो कभी मुरझा जाती। सोचने लगती, आज तक ऐसा दर्पण क्यों नहीं बना जिसमें जिस्म के साथ आत्मा की तस्वीर भी दिखाई दे। एक अजीब द्वंद्व-सा पैदा हो गया उसके अंदर। वह पूछने लगी, आखिर सुंदर है कौन—एक मां या एक स्त्री? दोनों में से एक या दोनों? या दोनों ही नहीं? आखिर क्यों बेबस है स्त्री स्वयं अपने से ही?

खैर, मां सज तो गई थी। फिर उसके अंदर एक नयी-नवेली दुल्हन पैदा हो गई। लड़कियां, बेटियां न होकर उसकी हमशक्ल दोस्त हो गई थीं। वह लड़कियों के साथ ड्राइंग रूम में आ बैठी। बतियाने लगी। इतने में दरवाज़े की घंटी बजी।

रुचि दौड़ी, "पापा...पापा, पापा!"

दरवाज़ा खोला तो पापा न होकर अंकल राबर्ट और आंटी लिज़ा निकलीं। मां उठी और दन्न से शरमाकर अंदर चली गई।

आंटी लिज़ा बोली, "क्या कोई तुम्हारी फ्रेंड आई है। कौन है यह! बहुत सुंदर है तुम्हारी दोस्त। अरे, बताओ न उसे कि हम नये नहीं है, इस घर के लिए। हमसे क्या शरमाना। मुझमें और देवकी में फ़र्क ही क्या है। क्यों राबर्ट सही है न? जा

बेटी ऋतु जा, अपनी दोस्त को ले आ और हां, देवकी है कि नहीं। उसे भी तो बता कि अंकल-आंटी आए हैं।"

अब तो ऋतु और रुचि दोनों शरारतभरी मुस्कान छोड़ती हुई उठीं और अंदर गईं।

"मां ऐसा क्या करती हो। अरे अंकल-आंटी ही तो हैं। तुम तो ऐसे लजा रही हो जैसे कोई नयी-नवेली दुल्हन हो। इतना ही बुरा लग रहा है तो जाऊं—कोई बुर्का खरीद लाऊं? पहन लेना उसे।"

ऋतु और रुचि मां को मनाने लगीं। कहने लगी, "मां सचमुच आज तुम दुनिया की सबसे हसीन मां हो, सबसे हसीन स्त्री हो। चलो, दिखाओ अपना जलवा।"

इतने में फिर घंटी बजी। फिर रुचि दौड़ी, "पापा आ गए...पापा आ गए," कहते हुए उनके हाथों से ब्रीफकेस लिया। पापा ने राबर्ट से हाथ मिलाकर पूछा, "कैसे हो राबर्ट, कैसी हो लिज़ा!"

लिज़ा बोली, "अरे, अकेले क्यों? आज देवकी कहां है?"

"अरे, भाई! कोई देवकी को ब्रीफकेस में रखकर ऑफिस थोड़े ही ले जाता हूं। मिली नहीं अभी तक? घर में ही होगी। क्यों रुचि मम्मी कहां है?"

"अरे, पापा! घर में ही हैं। अभी आती हैं। ऋतु दीदी के साथ आ रही हैं।"

"क्यों, भाई! ऋतु दीदी के साथ क्यों, सब कुछ ठीक तो है न!" पापा बोले।

लिज़ा ने कहा, "यही तो मैं सोच रही हूं, इतनी देर से बैठी हूं और देवकी का पता नहीं। ऋतु की कोई दोस्त आई है। मुझे देखकर वह अंदर भाग गई। शायद उससे बतिया रही होगी। मगर ऐसा तो कभी होता नहीं। मैं आई नहीं कि देवकी लाख काम छोड़कर आकर भिड़ जाती थी मुझसे! कहती इतने दिन में क्यों आई, क्या पियोगी? क्या खाओगी?"

"ओह हो, बात का बतंगड़ मत बनाओ। लो, ये आ गई मम्मी।"

राबर्ट, लिज़ा, पापा सब खड़े होकर ताकने लगे, सबके सब दंग।

"अरे देवकी तुम!" लिज़ा लपकी और गले से लिपट गई, "माशाअल्ला, क्या से क्या हो गई हो आज। अरी, लड़कियां मां की नज़र उतारो कि नहीं।"

पापा बोले, "वाह देवकी! क्या बात है! ठीक अट्ठारह साल बाद लगा कि यह वही देवकी है जिसे १८ साल पहले लेकर आया था।"

देवकी बोली, "हां, देवकी तो वही है जो अट्ठारह साल पहले थी। बस फ़र्क इतना है कि तब सबकी देवकी थी, अब देवकी (एक मल्टीनेशनल) बाज़ार की तरह खड़ी है आपके सामने।"

बकिंघम पैलेस के सामने

(यात्रा संस्मरण)

एक गोरी-चिट्टी मैम ने अपना जूम डिजीटल कैमरा मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा, "अगर आपको तकलीफ न हो तो इस स्टेच्यू के पास मेरा एक फोटो खींच दीजिए!"

मैंने कहा, "ज़रूर, ज़रूर!" मैंने फोटो खींच दिया। उसने लगभग तीन-चार बार अलग-अलग एंगल में खड़े होकर फोटो लेने को कहा। मैंने वैसा ही कर दिया। वह पास आकर थैंक्यू, थैंक्यू, थैंक्यू इंडीड बोली।

मैंने पूछा, "मे, आई नो यू?"

उसने कहा, "ओ वाय नॉट! आई एम फ्रॉम स्वीडन! आई एम ऑन मॉय हॉलिडे टूर!"

मैंने थोड़ी बेतकल्लुफी से कहा, "अकेले का भी क्या फोटोग्राफ! कोई तो साथ होना था, यादगार के लिए।"

वह हंस पड़ी। उसने मेरे बारे में जाना और कहा, "अब इस पैलेस के सामने वाले गेट के पास मैं जाती हूं। कुछ फोटोग्राफ इस तरह निकालिए कि गेट, पैलेस और गार्ड्स भी उसमें आ जाएं!"

मैंने वैसा ही किया।

फिर बोली, "आप भी खड़े हो जाइए, मैं अब खींचती हूं।" उसने स्टेच्यू और गेट के पास मेरे भी फोटो खींचे।

फिर वह कहने लगी, "आप कह रहे थे, अकेले का फोटो क्या? कोई साथ हो तो यादगार रहती है। सो, कम ऑन! वी विल बी टुगेदर नाऊ!"

बकिंघम पैलेस के सामने अजब नज़ारा था। कई जोड़े थे। कोई हाथ में हाथ डाले, कोई कमर में। गार्ड चेंज परेड देखने सैकड़ों की तादाद में लोग खड़े थे। पैलेस पर पहरा देते सिपाही जिस तरह घूम-घूमकर पोजीशन बदलते वह देखने लायक थी।

लाल चट वर्दी पर ब्लैक हेट, बड़े-बड़े बूट, बिरजिस जैसी कसी हुई ट्राउजर वर्दी में बदन ऐसा जैसे वर्दी पहनी न हो, बल्कि बदन उसमें जबरन फंसाया गया हो। हर उम्र का जोड़ा। कोई साथ, कोई अकेला।

यह था वहां की शाम का वह दृश्य। ब्रिटिश साम्राज्ञी के पैलेस के सामने का। कैमरे खटाखट क्लिक कर रहे थे। लगता था लोग परेड देखने कम, फोटों खींचने-खिंचवाने ज़्यादा आए हैं।

पास में एक बहुत हसीन, शालीन, शायद नवविवाहित जोड़ा खड़ा था। देखने में वे पंजाबी या मुसलमान हिंदुस्तानी या पाकिस्तानी लगते थे। हो सकता है, हनीमून पर आए हों, या किसी अन्य सिलसिले में। वे दोनों भी आपस में एक-दूसरे के फोटो ले रहे थे।

मैंने कहा, ''इफ यू डोंट माइंड, वाय डोंट यू स्टैंड टुगेदर, आई विल क्लिक।''

वे खुश हो गए। उन्होंने अपने ही कैमरे से पांच-दस फोटो खिंचवाए।

दो नये जोड़े, फ़ुदक-फ़ुदककर, खिलखिलाते, कभी स्टेच्यू के पास, कभी लॉन पर तो कभी गेट के पास इस तरह जा रहे थे, मानो तितलियों का रंगीन जोड़ा उड़ रहा हो या खरगोश लॉन पर उछल रहे हों। कभी गलबहियां लेकर, कभी कंधे से कंधा लगाकर, कभी कमर में हाथ डालकर। बस नहीं किया तो वह जो आम पश्चिमी जोड़े करते हैं—चिपके हुए या चूमते हुए एक भी फोटो नहीं लिया।

स्वीडन वाली उस महिला ने कहा भी, ''वॉय डोंट यू किस ईच अदर!''

वे झेंप गए, और कहा, ''नो, नो दिस इज़ नॉट ऑवर कल्चर, दिस इज़ नो वे ऑफ एक्सप्रेसिंग लव इन पब्लिक!''

अब मुझे पूरा एतबार हो गया कि वे भारत या पाकिस्तान के ही हैं।

अब बारी स्वीडिश महिला की थी! उसने एक पुरुष से कहा, ''इफ यू डोंट माइंड, प्लीज डू सम फेवर टु अस। हम दोनों साथ खड़े होते हैं। हमारे भी कुछ फोटोग्राफ निकाल दीजिए।'' स्वीडिश महिला ने हाथ में हाथ लेकर, कंधे पर हाथ रखकर, कमर में डाल डालकर फोटो खिंचवाए मगर यह नहीं कहा कि हम चुंबन लेते हैं, हमारा एक फोटो ऐसा भी निकाल दीजिए।

मैं निराश हो गया। मैं उम्मीद करने लगा था कि शायद वह ऐसा कहे। फिर मैंने अपना सिर खुजलाया और अपने आपसे कहने लगा, क्यों करती वह ऐसा? हम क्या हसबैंड-वाइफ हैं? लवर भी नहीं। गहरा परिचय भी नहीं। एक देश के भी नहीं। एक उम्र के भी नहीं! फिर क्यों कहती वह ऐसा? गनीमत है एक अनजान विदेशी नें दूसरे अनजान विदेशी के साथ फोटो खिंचवा लिए।

अब मैं उस जोड़े की तरफ़ मुखातिब हुआ। मैंने पूछा, ''आप भारत से हैं या पाकिस्तान से?''

जोड़ा बड़ा खुशमिज़ाज था। आदमी बोला, ''जनाब, इंसान कहीं का भी हो, होने से क्या होता है। बस आपस में प्यार होना चाहिए। इंसान को इंसान होना चाहिए।''

यह कहकर तो उसने मेरी नींव ही हिला दी। मैंने कहा, ''प्यार ही तो सबसे बड़ी चीज़ है। मगर वह होता ही कहां है! सभी तो नफ़रत में लगे हैं। कैसी-कैसी नफ़रतें—जाति की, धर्म की, सरहद की, पैसों की—न जाने कितनी नफ़रतें और उन नफ़रतों से ही होते हैं पैदा हथियार, हथियारों की सियासत करने वाले, युद्ध, आतंकवाद—न जाने क्या-क्या?''

वह युवक मेरा इतना लंबा भाषण सुनने को तैयार नहीं था। उसने कहा, ''अच्छा, अंकल चलते हैं।''

मैंने कहा, ''चलते क्या हैं यार! चलो कहीं कॉफी-शॉफी पीते हैं।''

''नहीं, नहीं अंकल! अभी कई जगह जाना है, यहां हमारे तनवीर मामू रहते हैं। डिनर उनके यहां हैं। वे जल्दी डिनर करते हैं।''

मैंने कहा, ''अभी तो बहुत वक्त है।''

इस बीच वह स्वीडिश महिला भी आ गई। साथ एक आदमी को और पकड़ लाई। बोली, ''लेट अस स्टैंड टुगेदर एंड हेव सम फोटोग्राफ्स!''

फिर हम चारों के भी फोटो हुए। स्वीडिश महिला ने भी उन्हें कॉफी का ऑफर दिया। इस बार वे मान गए। हम सब पास की कॉफी शॉप पर जा बैठे जो बकिंघम पैलेस से कुछ दूर बाईं साइड के पेवमेंट के पास थी।

कॉफी पर चर्चा चली। जोड़े ने बताया, वे दरअसल पंजाब के नहीं करांची के हैं। उनके मां-बाप, दादी-दादा भारत से ही पार्टीशन के बाद वहां गए थे। लड़के का नाम असलम नूर और लड़की का नाम राशिदा था। तनवीर मामू लंदन में एक आई. टी. कंपनी में साफ्टवेयर इंजीनियर थे। उनके ही बुलावे पर वे यहां आए हैं। तकरीबन 10-11 रोज़ रहकर लंदन के बाद शेक्सपियर का घर देखेंगे, वडर्सवर्थ के लैक डिस्ट्रिक्ट में भी जाएंगे। फ्रांस जाने का भी इरादा है। अंत में स्विटजरलैंड होते हुए वापस लौट जाएंगे।

मैंने कहा—हनीमून की शुरूआत फ्रांस या स्विट्जरलैंड से करते तो मज़ा कुछ और ही था। इंग्लैंड तो बड़ा ट्रेडीशनल देश है। वैसे लंदन ठीक है, मगर अब तो लंदन भी बिगड़ा-बिगड़ा-सा लगता है।

राशिदा ने पूछा—क्यों? फ्रांस और स्विट्जरलैंड से ही क्यों? लंदन से क्यों नहीं?

फ्रांस का एस्थेटिक सेंस गज़ब का है। ये लोग थोड़े इन्फार्मल भी हैं। स्विट्-जरलैंड में जाकर तो आपको लगता जैसे आप किसी लवलैंड में आ गए हैं और अगर इंटरलाकन जाएं, तो बस कहना ही क्या! आल्प्स के पहाड़ों के आस-पास झीलों का कारवां। सफेद दूधी नदी का बहाव। ग्लेशियर वाली ऊंची चोटी पर कंबल ओढ़कर ग्लेशियर पार करना, बग्घी में बैठना, फ्लोरल-क्लॉक के पास खड़े होकर लॉन पर लेट-लेटकर फोटो खिंचवाना। ए लॉट ऑफ रोमांस! वंडरफुल, ब्यूटिफुल!

अब स्विस महिला बोली—ये ठीक कह रहे हैं। मगर लंदन भी क्या कम है? बकिंघम पैलेस के आस-पास का नज़ारा क्या कम है? कितने जोड़े हाथ में हाथ डाले, चूमते, चिपकते, लॉन पर लुढ़कते। देख-देखकर प्यार न भी हो तो प्यार करने की इच्छा नहीं हो जाती है? फिर लंदन ब्रिज जाओ, टेम्स के किनारे खड़े होकर अंग्रेज़ी हुकूमत को टेम्स में बहते हुए देखो, बकिंघम पैलेस का संग्रहालय और राजसी वैभव देखो! तरह-तरह के थिएटर देखो। पिकेडली सर्कस को देखकर तो पूरे आर्किटेक्चर पर ही चौंक उठते हैं।

वह जोड़ा हमारी बकवासें ऐसी मज़बूरी से सुनता रहा, जैसे दो पंछियों को पिंजरे में डालकर उनके आगे आयतें पढ़ी जा रही हों। उनका अपना अंदाज़ है, उम्र है, आकांक्षाएं हैं, पसंद है—हम न जाने क्यों अपनी ज्ञान-गंगा बहा-बहाकर उन्हें उसमें तैरने को मजबूर कर रहे थे?

अब असलम-नूर ने बोलना शुरू किया, 'ठीक है, आपके एक्सपीरियंस अच्छे हैं, मगर अंकल मुझे लगता है—अपनी ज़मीन से ख़ूबसूरत दुनिया में और है ही क्या? मैं हूं तो यहां मगर मुझे याद आती है वहीं की सदा, वहां की मिट्टी की गंध और सुबह-सुबह देसी घी के करारे पराठें की ख़ुश्बू! यहां बर्गर खा-खाकर परेशान हैं। पीने को लस्सी की बजाय हर वक्त कोल्ड ड्रिंक या बीयर! यह भी कोई खाना-पीना है। हमारे मुल्क जैसा खाना-पीना इन गोरों के नसीब में है कहां?'

राशिदा ने कहा, 'चलो असलम! देर हो रही है। मामू इंतज़ार कर रहे होंगे।'

दोनों उठे, हाथ मिलाया और चलते-चलते बड़ी मासूमियत से राशिदा ने पूछा, 'आप भी हनीमून पर हैं?'

मैं और वह स्वीडिश महिला जोर से हंस पड़े! राशिदा झेंप गई। बॉय, बॉय ...सी यू का पारंपरिक हाथ हिलाऊ, खुदा हाफिज़ करके दोनों चल दिए।

मैं और स्वीडिश महिला भी अब एक-दूसरे से विदा होने को ही थे कि उसने पूछा, 'वेअर ऑर यू पुटिंग अप?'

मैंने कहा, 'लंदन यूनिवर्सिटी के एफ्रो-एशियन हॉस्टल में।'

उसने पूछा, 'किंग-क्रॉस के पास?'

मैंने कहा, 'यस!'

उसने कहा, 'मैं भी पास ही ग्लोबस इंटरनेशनल के रूम नंबर वन वन सिक्स में थर्ड फ्लोर पर हूं। इट्स हार्डली लेस देन ए किलोमीटर फ्रॉम योर हॉस्टल!'

मैंने पूछा, 'हाऊ लांग विल यू बी हियर? क्या आप फिर मिलना चाहेंगी?'

'इसीलिए, तो मैंने आपका भी पता-ठिकाना पूछा। क्यों न हम साथ-साथ सिटी विज़िट किया करें। आई एम ऑल अलोन। अच्छी कंपनी रहेगी। आई लाइक योर नैचर एंड सोब्राइटी।'

एक गोरी मैम का यह ऑफर पाकर तो मैं अंदर-ही-अंदर धन्य हो गया। लगने लगा जैसे उस मैम के अंदर कुछ तरल-सा मेरे प्रति बह रहा हो या फिर वह यूरोप की कल्चर में अकेली औरत की तरह घूमना पसंद न करती हो, इसलिए मुझे साथ ले रही है। हो सकता था किसी यूरोपियन या अफ्रीकी को भी साथ ले लेती। बकिंघम पैलेस पर इतने सारे पुरुष अकेले थे। शायद उसे लगा हो कि यह आदमी सीधा-सादा-सा है। इससे ख़तरा नहीं हो सकता! फिर वह अंग्रेज़ों की बनिस्बत इंडियंस को जरा ज़्यादा विश्वास के काबिल भी मानती थी। अफ्रीकी और खासकर वेस्ट इंडियन शोहदों को तो कतई नहीं।

मैंने कहा, 'आप और हम इतने वक्त से साथ हैं। परिचय भी खास नहीं। मगर कम-से-कम एक-दूसरे का नाम तो जानना चाहिए?'

वह हंस पड़ी और बोली, 'क्यों नहीं पूछा?'

'अब पूछता हूं, बताइए!'

'ऐलिस!'

'बहुत अच्छा। ऐलिस इन वंडरलैंड याद आ गई।'

'वह तो बच्ची थी मगर?'

'बच्ची ही तो बड़ी होती है। जैसे आप!'

'अब आप अपना नाम भी बताएंगे?'

'श्योर! मेरा नाम है समीर!'

'वॉट इज इट मीन?'

'समीन यानी विंड, कूल एंड प्लेजेंट विंड।'

'हाऊ ब्यूटिफुल! भारत में तो गॉड्स-गॉड्स पर बहुत नाम होते हैं। आपका नाम वैसा क्यों नहीं?' उसने पूछा।

मैंने कहा, 'हवा से बड़ा क्या कोई गॉड है? अगर है तो वह मेरे लिए विंड-गॉड है। इसलिए हमारे मुल्क में तो हवा भी गॉड है, पानी भी गॉड है, पहाड़ भी गॉड हैं, समंदर भी गॉड है। वी सी गॉड इन एवरी पेबल!'

'ओ वंडरफुल! इट मींस इंडिया इज स्टिल अ पेगन कंट्री।' (भारत अभी भी प्रकृति पूजक देश है!)

मैं बहस में उलझा। पूछा, 'आर यू नॉट अ पेगन? इज स्वीडन ग्रेटर, एंड बेटर देन नेचर? नेचर इज द गॉड ऑफ ऑल गॉड्स!'

उसने कहा, 'आप अच्छे डिबेटर रहे होंगे। चलिए मिस्टर समीर, होटल चलते हैं, थोड़ी-थोड़ी बीयर हो जाए!'

कोई मैम अपने साथ बिठाकर बीयर का ऑफर दे, यह तो विदेश में एक तरह चमत्कार है वरना अमेरिकी, अंग्रेज़, ऑस्ट्रेलियंन तो कभी कहते ही नहीं कि चलिए बीयर पर बात करेंगे। स्वीडन इज रियली डिफरेंट!

हम बीयर पीते हुए इंग्लैंड, बकिंघम पैलेस, उसके सामने के नज़ारे पर बात करते रहे!

इस बीच उसने पूछा, 'पिकेडली गए या नहीं? नहीं गए हो तो कल चलिए। गज़ब का बाज़ार है।'

मैंने कहा, 'अभी नहीं गया। कल ज़रूर चलेंगे।'

दूसरे दिन हम लोकल ब़स में बैठकर पिकेडली पहुंचे। मैम ने मेरे हाथ में हाथ डालकर पिकेडली के सारे सर्कल्स दिखाए। अचानक मैंने देखा, एक दरवाज़े पर तरह-तरह की रिबन की पट्टियों से बना एक परदा लटक रहा है। स्ट्रिप्स का परदा और दरवाज़े के ऊपर लिखा था बड़े-मोटे अक्षरों में 'सेक्स शॉप'। घूमते-घूमते ऐसी-दो चार शॉप्स देखने को मिलीं। फिर मैंने देखा, वहां पार्किंग में कुछ टैक्सियां खड़ी थीं जिन पर औरत की बड़ी-सी तस्वीर बनी हुई थीं और पास में लिखा था—Fnck। मैंने मन-ही-मन सोचा, शब्द के स्पेलिंग का एक अक्षर भर उलटा कर दिया गया है, यह कह देने से शब्द का अर्थ तो नहीं बदला, फिर सोचा किसी शब्द को आकर्षक या असरदार बनाना हो तो स्पेलिंग का उलट-फेर कितने अर्थ बना देता है।

मैम ने कुछ इन्फार्मल होकर पूछा, 'समीर, यू सीम टु बी डिस्टर्ब्ड! वॉट्स द प्रॉब्लम?'

मैंने कहा, 'हां, यह कैसा मुल्क है? खुलेआम कई जगह लिखा है सेक्स शॉप, कहीं टैक्सी पर लिखा है फक। क्या लंदन में बस इसी का व्यापार होता है, इसी की शॉपिंग करने आते हैं लोग?'

ऐलिस ने कहा, 'यू इंडियंस गेट डिस्टर्ब्ड वेरी ईजीली। दुनिया का है कोई मुल्क ऐसा जहां प्रॉस्टीट्यूशन नहीं है? अपने को दुनिया की सबसे पुरानी कल्चर के देश कहने वालों के यहां क्या कम है? चाइना में, चाइना जैसे ही थाईलैंड, फिलीपींस, सिंगापुर, कोरिया, जापान—सब जगह है और सुना है भारत में भी मोहल्ले के मोहल्ले भरे पड़े हैं प्रॉस्टीट्यूट्स से? फिर लंदन में यह देखकर तुम हैरान क्यों?'

'ऐलिस मैम! मैंने भी सुना है कि स्वीडन में अब परमिसिव सोसाइटी है। वहां स्त्री-पुरुष सिर्फ़ स्त्री-पुरुष हैं। रिश्तों का कोई मतलब नहीं। इज इट ट्रू? भारत में है प्रॉस्टीट्यूशन। मगर हाल ही में एक अख़बार के आंकड़ों के मुताबिक भारत और पाकिस्तान में यूरोप, एशिया के दूसरे देशों, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका से कम प्रॉस्टीट्यूशन है।'

'हर सुनी बात सच नहीं होती! स्त्री, स्त्री है, पुरुष, पुरुष। मगर जानवर नहीं हैं, जो सारे रिश्ते खत्म हो जाएं। वहां भी पेरेंटहुड है, मदर मदर है, फॉदर फॉदर है, बेटी-बेटी, बेटे-बेटे हैं। हां इतना ज़रूर कहूंगी कि हर प्रकार का सेक्स टेबू हमने तोड़ा है। सेक्स को हम रिश्तों की मॉरिलिटी में बहुत ज़्यादा जकड़कर नहीं रखते!'

'खैर, दिस इज अ डर्टी टॉपिक! लेट अस टॉक समथिंग एल्स!'

'क्यों इससे क्या तुम्हारी मॉरिलिटी को कोई ख़तरा है? चलो, मैं तुम्हें सेक्स शॉप दिखाकर लाती हूं!'

मुझे मन-ही-मन डर लगा, कहीं यह औरत सेक्स वर्कर तो नहीं जो मुझे वहां ले जाने को कह रही है। मैंने कहा, 'नो, नो मैम। आई कांट गो देयर। बेहतर है, हम आज यहां से फिर चलें, बकिंघम पैलेस के सामने ही!'

'क्यों, वहीं क्यों? सेक्स शॉप देखने क्यों नहीं? क्या उसे देखना कोई गुनाह है? जीवन में सेक्स है, इतना महत्त्वपूर्ण है, तभी तो सेक्स शॉप्स हैं? क्या लंदन में सिर्फ़ चर्च, पैलेसेज़ और कॉसल्स देखने आए हो? विशाल भवनों को देख-देखकर क्या होगा—आखिर तो सब पत्थर ही हैं। मनुष्य को भी देखो! तरह-तरह के मनुष्य! सेक्स शॉप्स में भी इंसान हैं। देह बेचती औरतें हैं तो क्या हुआ? खरीदार हैं तो दुकानें हैं।'

मुझे और ज़्यादा डर लगने लगा। मैंने कहा, 'नो, नो, डोंट टॉक ऑफ सेक्स शॉप्स ऐनी मोर नाऊ!'

'तो आप बहुत डिस्टर्ब्ड हैं, मिस्टर समीर!'

'यह मैम, यह मेरी कल्चर के खिलाफ़ है?'

'क्या है आपका कल्चर? कामसूत्र तो आपके ही कल्चर ने रचा! मंदिरों पर न्यूड्स हैं, आपकी ही कल्चर ने बनाए वे सब न्यूड्स। इरोटिक। ओपन सेक्स है,

ओपन सेक्स! ऐसा ओपन तो सेक्स शॉप में भी नहीं है! हाऊ इरोटिक इज ऑल दिस!'

मैं झल्ला उठा, 'देखिए डोंट टॉक ऑफ दीज थिंग्स! दे आर द ग्रेट कांट्रीब्यूशंस ऑफ इंडिया टु ह्यूमन सिविलिजेशन! दे आर फार एज्यूकेटिंग पीपुल एंड नॉट फॉर सेल इन शॉप्स लाइक दिस।'

'मानती हूं, मानती हूं। मगर यह भी मानती हूं कि सेक्स शॉप्स भी तो ह्यूमन सिविलिजेशन ने ही रची हैं!'

मैंने मन-ही-मन कहा बात तो ठीक कहती है। हमारे यहां भी गणिका, नगर-वधुएं, कोठेवालियां, रखैलें, कनीजें—न जाने क्या-क्या तो हैं। मुझे सिर्फ़ ऐतराज़ यह है कि यह औरत मुझे सेक्स शॉप दिखाने ले जाना क्यों चाहती है? कहीं वहां की ऐजेंट तो नहीं। मैंने अब जोर से बोलते हुए कहा, 'देखिए मैम मैं सेक्स विरोधी नहीं। सेक्स तो हर इंसान की ज़िंदगी में होता है। जब पशु-पक्षी में है तो इंसान क्या अलग है। जहां तक शॉप देखने का सवाल है, उसे भी देख सकता हूं। मैं नहीं जानता वहां का माहौल क्या और कैसा है? मगर मुझे वहां चलने में डर लग रहा है।'

'वहां चलने में डर लग रहा है, क्यों? खैर डर है तो डर की जगह मत चलिए! फिर कहां चलना चाहेंगे?'

'बकिंघम पैलेस के सामने?'

'क्यों, वहां क्यों?'

'बहुत रोमांच है उस जगह में! परेड में, सिपाहियों में, पैलेस की भव्यता में।' मैंने कहा।

'मिस्टर समीर! बहुत भोले हो! हर पैलेस बड़ा हो या छोटा या नया हो या पुराना। एक बड़ी सेक्स शॉप ही है!'

बकिंघम भी?

'शायद रहा हो, अभी भी हो। स्मारक बन जाने से जगहों का रूप भले ही बदल जाए, तासीर तो नहीं बदलती! इतिहास तो नहीं बदलता? शाही महलों के हरम थे ही क्या? एक बड़ी शाही सेक्स शॉप के अलावा?'

क्या, यूरोप के सारे पैलेसे ऐसे हैं? बकिंघम भी? मैं यह नहीं कहता? मगर इंडिया का कोई पैलेस बिना हरम के हो, यह मानना मुश्किल है। बकिंघम में तो ऐसा नहीं लगता?

'जब बकिंघम के सामने लॉन पर कितने ही जोड़े चिपके पड़े हैं, तो फिर बकिंघम के अंदर ऐसा नहीं हुआ होगा, कैसे कह सकते हो?'

'बकिंघम के बाहर और अंदर में फ़र्क है मैम!'

'क्या फ़र्क है, बाहर एक खुला बाज़ार है और भीतर एक हरम!'

'सामने तो ऐसा कुछ नहीं?'

'कुछ कैसे नहीं! सब कुछ तो भीतर जैसा है, बस सेक्स शॉप का बोर्ड भर नहीं लगा है।'

मैं बकिंघम पैलेस के सामने खड़ा सोचने लगा—मैम कहती तो ठीक है। कोठे और कोठी में बस यही तो फ़र्क है कि एक बदनाम है और दूसरे का नाम है। सोच में खोया हुआ था, जैसे ही सोच की समाधि टूटी देखता हूं मैम वहां से जा चुकी थी।

प्रेमचंद की रुह

"8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे। 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे? 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे!"

"एक ही वाक्य तीन बार क्यों?" उसने पूछा।

"एक ही वाक्य तीन बार कहां है? तीन वाक्य हैं। तीन तरह के।"

"कैसे?"

मैंने कहा, "पढ़ो, पढ़ो! जरा ध्यान से पढ़ो।"

उसने तीनों वाक्य बड़े सपाट तरीके से पढ़ दिए।

मैंने कहा, "तुम्हें ठीक से पढ़ना नहीं आता।"

"कैसे नहीं आता? एक-एक शब्द तो ठीक से पढ़ा है।"

"शब्द तो पढ़ा है, लेकिन वाक्य ठीक से पढ़े हैं क्या?"

"क्यों नहीं? पूरे के पूरे वाक्य पढ़े तो हैं।"

"हां, पढ़े हैं? अच्छा, पहला वाक्य खत्म होते ही कोई चिह्न है कि नहीं?"

"है, पूर्ण विराम।"

"दूसरे वाक्य में?"

"प्रश्नवाचक।"

"तीसरे में?"

"विस्मयादिबोधक!"

"तो, तुमने पूरे वाक्य फिर कैसे पढ़े? तुम चिह्नों को नहीं पढ़ते क्या? भाषा में चिह्नों को पढ़ना भी भाषा को पढ़ना है। चिह्न भाषा से पहले पैदा हुए हैं।"

"आखिर, आपने ये तीन चिह्न लगाए ही क्यों? क्या एक से काम नहीं चल सकता था?"

"देखो, ऐसा अगर होता तो भाषा मर न जाती?"

"ठीक है, ठीक है। मगर यह बताओ यह 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे, आपने क्यों लिखा?"

"ज़रूरी था लिखना! अभी तो गांव का नाम भी लिखना है—गांव था लमही-बनारस के पास!"

"क्या हुआ था वहां?"

"31 जुलाई, 1880 को हुआ था।"

"क्या हुआ था?"

"जन्म!"

"किसका?"

"धनपतराय का!"

"कौन धनपतराय? उसके पैदा होने से आपको क्या लेना-देना? क्या आप सारी दुनिया के जन्म-मरण का लेखा-जोखा रखते है?"

"लेना-देना क्यों नहीं? आगे लेकर उसने यह नाम छोड़कर अपना नया नाम रख लिया! इसलिए नाम में कुछ नहीं रखा, यह कहना गलत है।"

उसने पूछा, "क्या नाम रखा था उसने?"

"प्रेमचंद!"

"क्या यह धनपतराय से बेहतर नाम था या धनपतराय ग्रामीण नाम होने से उसने शहरी नाम 'प्रेमचंद' रख लिया, ऐसा तो नहीं?"

"प्रेमचंद नाम की खूबी यह थी कि सबसे प्रेम! गांव से, गरीब से, भाषाओं से, इंसानों से और उन सबसे जो प्रेमचंद के दिल में रहते थे। दरअसल प्रेम उनके लिए शब्द नहीं, बल्कि जीवन का हिस्सा था। इस प्रेम के कारण ही तो वे अपना दर्द, अपना संघर्ष सब कुछ दूसरों की ख़ातिर सह लेते थे। चंद लोग ही होते हैं ऐसे, जैसे प्रेमचंद।"

'तो, इस प्रेम का वे बहुत इस्तेमाल करते थे?" उसने पूछा।

"प्रेमचंद के नाम से वे कहानी लिखते थे। प्रेमचंद नाम बन गया बड़ा कहानी लिख-लिखकर। जानते हो, लिखना वह भी बड़ा लिखना, नाम को भी बड़ा बना देता है।"

"अच्छा, तो वह फेमस प्रेमचंद वास्तव में धनपतराय थे?"

"ठीक कहते हो!"

"8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे का क्या मतलब?"

"बहुत बड़ा मतलब है! प्रेमचंद इसी रोज़ शरीर त्याग कर एक रुह बन गए।"

"तो, इसमें क्या बड़ी बात है? शरीर तो कई लोग त्यागते हैं। कहा जाता है कि मरता तो शरीर ही है, रुह नहीं।"

"होशियार हो, देह और रुह के रिश्ते के बारे में जानते हो। मगर, प्रेमचंद का रुह हो जाना अलग बात है!"

"क्यों! अलग बात कैसे?"

"ऐसे व्यक्ति की मौत हमेशा रुह में ज़िंदा रहती है। उसकी रुह का हमारे बीच होना, हम सबका ज़िंदा रहना भी है।"

"हम सब? हम सब यानी कौन?"

"हम लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार आदि-आदि।"

"अच्छा, तो आप स्वयं अपने लेखन से जीने की बजाय प्रेमचंद की रुह के सहारे जी रहे हैं। क्या, प्रेमचंद भी लेखक बनने के लिए किसी रुह के सहारे दुनिया में आए थे?"

"मैं नहीं जानता, वे किसी रुह के सहारे आए थे या नहीं; मगर इतना जानता हूं कि उनकी रुह के सहारे कई लोग लेखक बन गए और बनते जा रहे हैं।"

"तो, आपका मतलब है, बड़ा कहानीकार बनने के लिए किसी बड़ी रुह की ज़रूरत पड़ती है? है न?"

"ज़रूरी नहीं। लेकिन अगर बड़ी रुह सामने है, तो उससे यह लगता है कि हमसे बड़ा कोई था या फिर हम उससे बड़ा होने की कोशिश कर सकते हैं।"

"क्या बड़ा बनने के लिए कोशिश करनी पड़ती है? क्या प्रेमचंद कोशिश कर करके बड़े बने थे?"

"नहीं! बड़ा लेखक तो अपने लेखन से ही बड़ा बनता है। बस उसे अपनी प्रतिभा और अपनी अनुभूतियों का इस्तेमाल आना चाहिए!"

"अच्छा छोड़ो सारी बहस! अब यह बताओ कि तुमने 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे, तीन तरह से क्यों लिखा?"

"सुनो, हर वाक्य को गंभीरता से पढ़ो, चिह्नों को पढ़ो, उन्हें समझो; मतलब तुम्हें अपने आप समझ में आ जाएगा। मैं ये तीन नहीं, पांच-दस वाक्य और लिख सकता था, वे भी तरह-तरह के। मगर मैंने सिर्फ़ तीन ही तरीकों का इस्तेमाल किया।"

"क्यों नहीं किया बाकी तरीकों का इस्तेमाल?"

"तुम तीन तरीकों में ही उलझ गए। ज़्यादा तरीके आजमाता तो शायद बौखला ही उठते!"

"अच्छा, यह बताओ 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे प्रेमचंद देह से रुह में बदल गए थे, है न। रुह तो मरी नहीं, किसी की भी नहीं मरती। अब यह बताओ कर क्या रही है यह रुह?"

"रुह! क्या कर रही है? अरे वह खोज रही है कोई ऐसी देह जिसमें वह प्रवेश कर सके।"

"तो, क्या 8 अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे से आज तक ऐसी कोई देह मिली नहीं जिसमें वह रुह उतर सकती?"

"मिली थी, उतरी भी। मगर, फ़ौरन ही छटपटाकर बाहर आ गई!"

"क्यों?"

"सबसे पहले दो देहों में वह उतरी थी। उसे लगा कि उनकी देह में जाकर एक तो वह ठीक से प्रेमचंद न बन सकेगी। फिर उसने यह भी देखा कि जिन दो देहों में उतरी थी उनके अंदर की रुह ने प्रेमचंद की रुह को देखकर छटपटाना शुरू कर दिया। अब प्रेमचंद की रुह ठहरी बहुत संवेदनशील! दूसरी रुह को छटपटाते देखकर वहां रह कैसे सकती थी? इसलिए दोनों के अंदर से फ़ौरन ही बाहर निकल आई।"

"किनकी थीं ये दोनों देह?"

"थीं तो उनके अपने ही घर की? अच्छी भी थीं। पर प्रेमचंद की रुह को लगा कि उन देहों में लमही गांव की धूल चिपकी हुई नहीं थी। बनारस की गलियों की कोई आहट नहीं थी। किसान के पसीने की ग़र्म धार नहीं थी। इसलिए प्रेमचंद की रुह को लगा कि उन देहों से बाहर निकलकर कोई नयी देह खोजी जाए।

"प्रेमचंद की रुह फिर पूर्णिया की ओर उड़कर गई। आस-पास के सारे गांव छान मारे। जिस देह में उतरना चाह रही थी उसने जब यह सुना कि प्रेमचंद की रुह उसमें उतरने आ रही है तो वह खुद अपना गांव छोड़कर अपनी एक महिला दोस्त के गांव में चली गई। प्रेमचंद की रुह को शायद वह देह पसंद आती, अगर वह मिल जाती। फिर प्रेमचंद की रुह ने भी सोचा कि जब वह देह खुद अपनी रुह से इतनी मजबूत है कि मेरी रुह को कबूल करना ही नहीं चाहती, तो बेहतर है उसकी रुह को उसकी रुह की तरह से ही आज़ाद रखा जाए। प्रेमचंद की रुह ने पूर्णिया का इलाका भी छोड़ दिया। प्रेमचंद की रुह को पसंद नहीं था कि किसी की देह को उसके न चाहते हुए जबरन अपना घर बनाया जाए।

"अब प्रेमचंद की रुह फलसफे में पड़ गई। सोचने लगी, इतना बड़ा मुल्क, इतने सारे गांव, इतने सारे किसान, मज़दूर, लेखक। ज़ुल्म सहते लोग, अत्याचार भोगती औरतें। फिरंगी हुकूमत भाग चुकी प्रजा। पैसे वालों के इशारों पर नाचती

देहें— सब कुछ मेरे ज़माने जैसा तो है, कुछ ज़्यादा ही है, फिर भी मेरी रुह किसी भी देह में उतरना क्यों नहीं चाहती? क्या दरअसल होरी अब नहीं रहा, धनिया नहीं रही, घीसू माधव भी बदल गए? क्या शतरंज की बाजी बिछाते नवाब अब शतरंज छोड़कर भाग खड़े हुए हैं? फिर भी, लगता तो ऐसा है कि नवाबों से बढ़कर नवाब अभी भी मौजूद हैं, अंग्रेज़ अफ़सरों से बढ़कर अफ़सर मौजूद हैं, मेरे ज़माने के पूंजीपतियों से बढ़कर पूंजीपति हैं, किसान हैं, मजदूर हैं। फिर मेरी रुह को यह क्या हो गया जो किसी में उतरना ही नहीं चाहती?

''मैंने रुह से पूछा, क्यों किस ख़्याल में खो गईं? मिली कि नहीं कोई देह अभी तक? अच्छा होता जल्दी किसी देह में पनाह ले लेती, दर-दर भटकने से तो मुक्ति मिलती।

''प्रेमचंद की रुह बोली, भैया तुम जानते नहीं रुह का मामला। मैं एक मुकाम पर ठहर ही नहीं सकती। मुझे तो भटकना ही होता है। मैं जब प्रेमचंद की देह में थी तब भी जगह-जगह खुद ही गई, गांव-शहर, बस्ती, गली, कोठा, कोठी, दरबार, खेत, खलिहान—सब जगह, सब जगह!

''इसका मतलब तो यह हुआ कि तुम्हारी रुह ने जो कहा वही तुम्हारी देह ने लिखा? खुद कुछ नहीं लिखा?

''अरे भाई! रुह के बगैर देह है ही क्या? एक लेखक के हाथ में जो कलम होती है न, वही तो उसकी रुह है। उसे वह अपने ही खून में डुबो-डुबोकर लिखता है।

''तो, क्या लेखकं होने के लिए सबको ऐसा ही करना पड़ता है?

''जो ऐसा करते हैं न उनके लिखे में देह नहीं, रुह बोलती है। जो नहीं कर पाते वे तो महज लफ़्ज़ों के कंकर-पत्थर जमाते रहते हैं।

''तुम चाहतीं तो 8 अक्टूबर, 1936 को ही कोई एक देह चुन लेतीं और उतर जातीं उसमें! उस वक्त तो कई अच्छी-अच्छी देह मौजूद थीं। एकाध देह तो तुम्हारे जैसी मिल ही जाती!

''तुम्हारा मतलब उन लोगों से है जो मेरी रुह के बराबर खड़े थे और ख़ुद अपनी रुह डाल-डालकर कहानी, उपन्यास, कविता लिख रहे थे! उनको क्यों सताती मैं? आखिर मैं ठहरी एक आज़ाद ख़्याल रुह!

''तुम्हारा यह रुह-फलसफा मुझे तो कुछ जंचा नहीं! नाहक तुम 8 अक्टूबर, 1936 को अपनी देह से अलग हुईं। बनी रहतीं तो बेहतर था।

''अलग तो हुई ही कहां? कोशिश की, तो पहले तो कोई देह मुझे स्वीकार करने को तैयार ही नहीं थी। जो कुछ थीं, वे इतनी कमज़ोर थीं कि अगर उनमें उतर

जाती तो वे मेरा वजन सह नहीं पातीं और उधर उनकी ख़ुद की रुह भी चकनाचूर हो जाती। मजबूत देह मुझे चाहती नहीं और कमज़ोर देह को मैं नहीं चाहती।

''तो, फिर आखिर तुमने क्या सोचा?

''सोचने के लिए बहुत कुछ है इस दुनिया में। मनुष्य स्वयं सोचने के लिए एक बहुत बड़ा मुकाम है—तरह-तरह से सोचने का। जन्म, मृत्यु, लड़ाई-झगड़ा, कला-साहित्य, धर्म-कर्म, पैसा-कौड़ी, जांत-पांत, ऊंच-नीच, अच्छा-बुरा, गरीब-मालदार, सम्मान-अपमान, औरत-आदमी, अपराध-अन्याय, हवस-हैवानियत, प्यार-मोहब्बत, युद्ध-शांति, आतंक-आनंद, रोज़ी-रोटी, शराब-किताब अगर इस तरह सोचना शुरू कर दूं तो बस समझ लो कभी अंत ही नहीं।

''तो, फिर तुमने कोई मनुष्य अभी तक चुना क्यों नहीं? जानती हो तुम्हारे सामने एक मनुष्य देह थी, जिसमें तुम उतर सकती थीं! वह दरअसल तुम्हारे लायक थी! देह क्या थी, वह तो रुह ही रुह थी, आत्मा ही आत्मा। आत्मा के अलावा कुछ नहीं!

''जानती हूं, जानती हूं। वह मेरे समय में एक देह या एक आत्मा नहीं थी। वह मेरे समय की छत्तीस करोड़ देहों की एक देह और छत्तीस करोड़ आत्माओं की एक आत्मा थी।

''तो, उसमें क्यों नहीं उतरीं? उसका तो तुम पर काफी असर भी था। था न?

''ठीक कहते हो यार! सच पूछो तो उस देह में उतरना बहुत बड़ी चुनौती होती! उसके अंदर तो आलोक ही आलोक भरा था—देह चलती थी तो साथ-साथ उजाला चलता था! वह हर तरह के अंधेरे को उजाले में बदलने की ज़िद ठाने बैठा था। मेरे पास तो सिर्फ़ मेरे कुछ ही शब्दों की रोशनी थी मगर उसके पास पूरी भाषा रोशनी की तरह थी, विचार की रोशनी, ज़िद की रोशनी, प्यार की रोशनी, दया की रोशनी, कर्म की रोशनी, शांति की रोशनी। वह यानी साक्षात् सूर्य, कभी न अस्त होने वाला सूर्य। सच पूछो तो वह तो देह में भी रोशनी, रुह में भी रोशनी, चलती-फिरती रोशनी ही रोशनी।

''फिर तो उस देह में तुम्हें ज़रूर उतरना चाहिए था!

''उतर रही थी, काफी नज़दीक पहुंच भी गई थी, मगर उस देह ने इंकार कर दिया। कह दिया सुनो, प्रेमचंद की रुह! तुम किसी देह में क़ैद होने के लिए नहीं हो। बस तभी से तो भटक रही हूं!

''तो, भटकती रहो! तुम जैसी रुह का भटकना ज़रूरी है!

''क्यों? क्यों कह रहे हो ऐसा?

"जानती हो! ८ अक्टूबर, 1936 सुबह दस बजे के बाद आज तक ऐसी कोई देह पैदा हो नहीं हुई जिसमें तुम उतर सको।

"तो फिर मैं क्या करूं, कहां जाऊं?

"एक काम कर सकती हो।

"क्या?

"जाओ, वापस लमही जाओ! शायद लमही की देह ही वह देह है जिसमें तुम उतरकर, भटकने से मुक्ति पा सकती हो। लमही तुम्हारी बाट जोह रही है।"

•

ऑस्ट्रेलिया-ऑस्ट्रेलिया

दुनिया में शायद ही कोई देश ऐसा हो, जहां जवान लड़की-लड़के, बच्ची-बच्चे, स्कूल और मास्टर न हों। ऐसा भी शायद ही कोई देश हो जहां किशोर उम्र छाती पर न उभरती हो, युवा उम्र प्यार न करती हो और अगर वह ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका और यूरोप है तो प्यार भी अजीब। जोड़े के जोड़े हर सड़क पर, मेट्रो ट्रेन स्टेशन पर, यहां तक कि ट्रेन में, बस स्टॉप पर, बाज़ार में, यूनिवर्सिटी कैंपस पर आपस में चूमते और चिपके न मिल जाएं तो पश्चिम ही क्या? प्राइमरी स्कूल ही ऐसे जगह है जहां यह चूमा-चाटी का खेल बच्चों में नहीं है मगर वहां टीचर एक-दूसरे के अगर प्रेमी हैं तो वे बच्चों के सामने ही एक-दूसरे से अपने होठ चिपका देते हैं।

पश्चिम में मिठाई शायद बहुत कम होती है—केवल कुछ चाकलेट्स या केक्स, पुडिंग, आइसक्रीम के अलावा इस कमी को पूरा करने के लिए वहां जवान जोड़े होठों को मिठाई बना लेते हैं।

थाईलैंड में बैंकाक के हवाई अड्डे पर उतरते ही रिसेप्शन काउंटर से होटल की जानकारी ली तो जानकारी के साथ उसने एक एलबम थमा दिया। शायद 15-16 साल से 30-40 साल तक की लड़कियों के फोटो थे। मैंने पूछा इसका क्या करना? उसने कहा ये मसाज गर्ल्स हैं। आप चाहें तो आपके साथ होटल में रात बिता सकती हैं। मैंने कहा, क्या वाहियात जगह है। हम होटल का पता लेकर टैक्सी स्टैंड पर पहुंचे। टैक्सी में बैठे ही थे कि ड्राइवर ने वैसा ही एक एलबम पकड़ा दिया। मैंने कहा, घूमने आए हैं, सेक्स करने नहीं।

होटल पहुंचे। होटल में कमरा दे दिया गया साथ ही एक वेटर कर दिया गया। वेटर ने सामान रखकर टिप के लिए हाथ फैलाया और फैलाए हुए हाथ में फिर एक एलबम। मैंने कहा—यह देश है सेक्स डॉनों का अड्डा! जैसे-तैसे दो दिन काटे और

चल पड़े वहां से हवाई अड्डे। रात ग्यारह बजे थाई एयरवेज की ऑस्ट्रेलिया के लिए फ्लाइट थी। रास्ते में एयरहोस्टेज भी मिलीं तो थाई ही। थाई, थाई, थाई—एलबम, एलबम देख-देखकर परेशान। गनीमत यह थी कि प्लेन में कोई एलबम देखने को नहीं मिली, मगर एक मोटी-सी औरत केवल कच्छा पहने हुए पूरा शरीर एक बूढ़े आदमी पर झुका-झुकाकर फुसफुसाकर बात करने लगी, उस बूढ़े के पास ही मेरी सीट थी। मैंने औरत से कहा, 'आप यहां बैठ जाइए, मैं आपकी सीट पर चला जाता हूं।' ऑस्ट्रेलिया पहुंचकर देखता हूं वह औरत और आदमी स्मगलिंग के सामान के साथ हवाईअड्डे पर पकड़े गए। मैं डर गया।

वह औरत मुस्कराती रही, सिगरेट पर सिगरेट पीती रही। सिक्योरिटी ने उसकी चोली में हाथ डालकर उसकी तलाशी ली। गनीमत थी कि कच्छे में हाथ नहीं डाला।

हमारा छह लोगों का दल सिडनी उतरा और हम उन दोनों के बारे में बातें करने लगे। मैंने कहा, अपराध और अपराधी कहां नहीं होते! शायद ही कोई ऐसा देश हो जहां अपराधी न हों, अपराध होते हैं तभी तो पुलिस है, पुलिस है तो अदालतें हैं, अदालतें हैं तो जेल हैं, जेल हैं तो क़ैदी हैं। गैरकानूनी माल है तो तस्करी है, खरीदार हैं तो माल है। मनुष्य सभ्यता की कितनी भी डींग हांक ले, उसके अंदर का अपराध जगत् न जाने किस-किस तरह से जाग्रत हो उठता है। कभी बलात्कार, कभी कत्ल, कभी चोरी, कभी डाका और न जाने कितने तरह के अपराध!

हम ऑस्ट्रेलिया जा रहे थे एक शैक्षिक अध्ययन के लिए। भारत के कई स्कूलों में प्राथमिक स्तर पर केवल एक शिक्षक है, कहीं दो और कहीं एक भी नहीं, फिर भी स्कूल हैं। बिना शिक्षक के स्कूल होना, क्या दुनिया के किसी आठवें आश्चर्य से कम है? अरे भारत की शिक्षा खुद क्या किसी आश्चर्य से कम है? बिना बैठने की व्यवस्था, बिना ब्लैकबोर्ड, बिना ठीक-ठाक भवन और बिना शिक्षक, या एक आधा-अधूरा शिक्षक, फिर भी स्कूल? देखा है कहीं ऐसा स्कूल! भारत के साहब लोग कहते हैं, भारत में ही अकेले सिंगल टीचर स्कूल नहीं हैं, ऑस्ट्रेलिया के कई गांवों में भी ऐसा है फिर भी वहां पढ़ाई होती है, मगर हमारे यहां सिंगल टीचर के नाम पर पढ़ाई ही नहीं होती। जाइए, जाकर देखिए वहां के स्कूल, कीजिए अध्ययन और आकर वैसा ही कीजिए जैसा वहां होता है।

भारत का मास्टर ऑस्ट्रेलिया में? ऐसा कैसे हो सकता है? पहले तो मंत्री, प्रशासक, अफ़सर सबको केंद्र से राज्य तक अखरा क्योंकि यह अधिकार तो सिर्फ़ उनको है। जब यूनिसेफ अड़ गया तो मिस्टर हेनरिक्स के नेतृत्व में हम छह मास्टरों का झुंड ऑस्ट्रेलिया भेज दिया गया।

छह आदमियों का यह भारतीय मास्टरों का दल ऑस्ट्रेलिया में न्यू साउथवेल्स के शहर आर्मीडेल पहुंचा। पहुंचते-पहुंचते साढ़े नौ का वक्त हो चुका था। सिडनी जल्दी पहुंचकर करीब एक-डेढ़ घंटा गुज़ारा। फ्रेश भी हुए। एयरपोर्ट के लाउंज में बैठ गए। अब आर्मीडेल रवाना होना था। आर्मीडेल सिडनी से करीब एक घंटे की फ्लाइट से हम पहुंचे। भारत से बैंकाक तक का सफ़र था ब्रिटिश एयरवेज़ से। बैंकाक से फ्लाइट बदली और थाई एयरवेज से 8-10 घंटे की उड़ान के बाद दिन उगते-उगते सिडनी उतर गए। एयरपोर्ट पर उतरते ही प्यास लगी। मैं कैंटीन पर गया और एक गिलास पानी मांगा। काउंटर पर बैठी स्त्री ने गिलास में पानी दे दिया। धीरे-धीरे हमारे तीन साथी और पानी पीने पहुंचे। स्त्री को बड़ा नागवार लगा। उसने कहा, देखिए वहां टेप है, पी लीजिए। साफ़ ड्रिंकिंग वॉटर है। साथियों को इस बदतमीज़ी पर बुरा लगा, मगर करते तो करते भी क्या?

अब चाय की चाहत जागी। चाय के दाम थे दो ऑस्ट्रेलियन डॉलर यानी करीब पचास रुपये। आधे साथी दाम सुनकर हट गए। वे डॉलर को रुपयों में बदलकर वहां की महंगाई पर ताज्जुब कर रहे थे। हम पांच में से तीन ने चाय पी। एक साथी ने सिगरेट जला ली। काउंटर पर बैठी स्त्री लपककर आई, 'वॉट आर यू डूइंग, दिस इज नो स्मोकिंग जोन। यू विल बी फाइंड फाइव हंड्रेड डॉलर्स। गो देट साइड इमि-डियेटली। देयर यू कैन स्मोक! हमने सोचा बाल-बाल बच गए! सवेरे-सवेरे का वक्त होने से बच गए वरना चाय के पचास रुपये, फाइन के पांच सौ डॉलर के आगे लगते कहां?

सिडनी एयरपोर्ट पर थोड़ी देर में एक बस आई। बस के ड्राइवर ने खुद उठा-उठाकर हमारा सामान बस के कैरियर पर रखा। हम मदद करने लगे तो बोला, "नो, नो! दिस इज अवर जॉब!" वहां से हम डोमेस्टिक फ्लाइट के लिए क्वांटा एयरपोर्ट पहुंचे, जहां से क्वांटा फ्लाइट का एक सोलह सीटर विमान हमें लेकर आर्मीडेल पहुंचा। एक घंटे की फ्लाइट में अच्छा नाश्ता मिला। हम करीब साढ़े नौ बजे आर्मीडेल पहुंचे।

आर्मीडेल विश्वविद्यालय एक ख़ूबसूरत पहाड़ी पर है। आस-पास नवंबर की धूप खिली-खिली। लाल-पीले फूलों के पेड़ देख-देखकर हमारा एक साथी चिल्लाया, 'अरे क्या बात है! हम तो डुप्लीकेट पैरेडाइज में आ गए।' इस पर सभी हंस पड़े। थोड़ी ही देर में विश्वविद्यालय के ह्वाइट हाउस के सामने गाड़ी रुकी। वहां की वार्डन जैनी और असिस्टेंट वार्डन नैन्सी ने पहले तो नमस्ते कऱके हमारा स्वागत किया, फिर हाथ मिलाया। इसके बाद हमें हमारे लिए निश्चित कमरों में ले जाया गया, चाभी दे दी गई। ऑटोलॉक सिस्टम समझा दिया गया। टेलीफोन का इंटरकॉम बताकर ज़रूरी सर्विसेज़ के नंबर दे दिए गए। अगर ऑटोलॉक के बाद चाभी अंदर रह जाए तो मास्टर की के लिए मैम टेनिसा से ग्राउंड फ्लोर के रूम नंबर 51 में जाकर मिलने या फोन करने को कहा गया। चाभी अंदर रह जाने पर फोन के लिए कमरों के बाहर एक जनरल फोन था जिससे टेनिसा को फोन किया जा सकता था।

इसके बाद जैनी और नैन्सी ने कहा, 'बी क्विक! (जल्दी कीजिए) लंच ग्यारह से बारह के बीच होता है। मैं पांच मिनट पहले आकर रिफेक्टरी में आपको ले चलूंगी।'

वह ठीक समय पर आ गई। सभी साथी तैयार थे—ऐसा लग रहा था कि रात का प्लेन का खाना रुचा नहीं था। सुबह का नाश्ता था तो अच्छा मगर पर्याप्त नहीं था। इसलिए भूख जोरों पर थी। हममें से तीन लोगों ने अपने संपूर्ण वेजीटेरियन होने का कार्ड भरा था। साथ में यह भी लिखा था कि इंडिया में अंडा नॉनवेज है, लेकिन मिल्क वेजीटेरियन है। रिफ्रेक्टरी (भोजनकक्ष) में तरह-तरह के जूस और सूप थे। जैनी मैम ने कुछ लेने को कहा। हम लोगों ने जूस ही लिया। फिर प्लेट उठाकर काउंटर पर पहुंचे। वहां हमारे खाने का अलग इंतज़ाम था। हमें स्टीम्ड राइस, स्टीम्ड पोटेटो और बीन्स की सब्जियां दी गईं, साथ ही फलों की एक बास्केट पकड़ा दी गई।

उस दिन इतवार था। इसलिए रेस्ट करने को कहा गया। दिन में हमने रेस्ट बिलकुल नहीं किया। हेनरिक्स अपना वर्क शिड्यूल और कंट्री-स्कूल विजिट के प्रोग्राम डिस्कस करता रहा। कुछ देर बाद जैनी और नैन्सी भी आ गईं। उन्होंने हमें नाश्ते से डिनर तक के टाइमिंग्ज बताए। अगर इंटेरेस्टेड हों तो नाइट क्लब जा सकते हैं। वहां ड्रिंक्स अवेलेबल हैं, रिक्रिएशन के साधन हैं, मगर वहां ज्यादातर स्टुडेंस होते हैं, जो खूब पीते हैं और आधी रात तक नाचते हैं।

मैंने हेनरिक्स से कहा– 'क्यों न क्लब चला जाए। देखें तो सही, क्या नज़ारा होता है वहां का?'

हेनरिक्स ने कहा– 'नो, नो! हम यहां इस काम के लिए नहीं आए हैं। बी सीरियस! अभी हमें पूरा महीना गुज़ारना है। किसी भी वीकएंड पर चल सकते हैं, बट नॉट टुनाइट। चलिए हम अपना वर्क शिड्यूल बनाएं और किसको कहां जाना है, क्या करना है, यह तय कर लें।'

मुझे थोड़ा बुरा लगा, मगर वह हमारा लीडर था, उसकी बात मानकर अनुशासन में रहना ज़रूरी था। हेनरिक्स पीने का शौकीन कतई नहीं था। कभी-कभार पोर्ट वाइन या बीयर पी लेता था। स्ट्रांग ड्रिंक्स में वैसे उसने कभी-कभी स्कॉच पी है, मगर वह पसंद नहीं करता था। हमारे ग्रुप में मेरे अलावा दो साथी और थे जो पीना पसंद करते थे, मगर उन्हें बीयर या वाइन में मज़ा नहीं आता था। हम लोग रात ग्यारह बजे तक काम करते रहे। फिर जैनी ने कहा, 'इट्स क्वाइट टाइम नाऊ। लेट अस मीट इन द मार्निंग एट सेवन, एट ब्रेकफास्ट।'

हम सुबह सात के पहले तैयार होकर ब्रेकफास्ट पर पहुंचे। तरह-तरह के ब्रेड। ब्रेड सेंकने के लिए दीवार पर एक ब्रेड टोस्टर लगा है जिसमें चौबीस खांचे हैं। आप कतार में खड़े होकर, अपना नंबर आने पर खाली खांचे पर अपना ब्रेड लगा दें। दो मिनट में ब्रेड रोटेट होकर आपकी प्लेट में आ जाएगा। हमने तरह-तरह के जूस पिए। कुछ लोगों ने आमलेट खाया। बीफ-हेम्बर्गर भी थे...लिखा होने से किसी ने नहीं खाया। तरह-तरह के कॉर्न-फ्लेक्स सजे हुए थे। वहां दूध ठंडा मिलता है, अब कॉर्न-फ्लेक्स गलाए कैसे जाएं? मुझे तरकीब सूझी। मैं टी-कॉफी के गर्म पानी की टंकियों के पास गया, थोड़ा गर्म पानी बाउल में लिया उसमें कॉर्न-फ्लेक्स और शकर मिलाई, फिर ठंडा दूध डाला। कॉर्न-फ्लेक्स मुलायम। क्या इंडियन दिमाग़ है, फिर हम लोगों को तो मिलावटी चीज़ें खाते-खाते इतनी आदत पड़ गई है कि हम शुद्ध चीज़ें ही खाना भूल गए। हम कोई भी चीज़ और जेम एक साथ मिला लेते, कभी दो तरह के जूस मिला लेते...मिला-मिलाकर स्वाद लेना हमारा रोज़ का शगल बन गया। नाश्ता इतना रिच होता था कि खाकर पेट भर जाता था।

नाश्ते के बाद हमें जाना होता था...कंट्रीसाइड के स्कूलों में। कैलीस प्लेन, सिल्वर रिवर, ड्रमंड आदि गांवों में। हमें लंच पैक करके दे दिया जाता। बड़े-बड़े आठ स्लाइसेस में कच्ची सब्जियां और मक्खन भर दिया जाता। मक्खन की एक ब्रिक साथ दे दी जाती। जूस के टेट्रापैक पैकेट दे दिए जाते और ढेर सारे सेब और

संतरे दे दिए जाते। कभी-कभी एक-एक पैकेट योगर्ड (दही) दे दिया जाता। कंट्री स्कूल में केवल दो टीचर, चालीस बच्चे। उनके साथ बांटकर खाने को वे लोग ठीक नहीं समझते, एक-दो दिन तो बांटा फिर मिस्टर टेनी बोले, वॉय डू यू ब्रिंग सो मच?

अब काम शुरू हुआ। स्कूल की हेड टीचर मैम ईवा ने वहां की सारी जानकारी दी। हम दो-दो के ग्रुप में बंटकर अलग-अलग गांवों में चले गए थे। वहां क्लास में लगातार पढ़ाई जैसी कोई चीज़ नहीं थी। बच्चों और टीचर्स के बीच इंटरएक्शन होता रहता था। आस-पास बच्चों की किताबों की ढेरियां थीं। जो चाहो वह किताब उठाओ और पढ़ो। आधा समय इस प्रकार की इंफॉरमल और इंटरएक्टिव टीचिंग में के.जी. और प्राइमरी से पांचवीं कक्षा तक बच्चों के साथ बीतता। फिर उन्हें मैथ खासतौर पर पढ़ाया जाता, साइंस पढ़ाई जाती, अंग्रेज़ी पढ़ाई जाती। हम लोग दर्शक होते।

एक दिन ईवा बोली, 'आप बच्चों के साथ कोई एक्टिविटी करेंगे।'

मैंने कहा, 'ज़रूर!'

मैंने बच्चों को पहले अपना परिचय दिया, देश का नाम बताया। फिर पूछा, 'वॉट डू यू वांट फ्रॉम मी?'

बच्चों ने कहा, 'टेल अस समथिंग अबाउट ह्वाइट टाइगर!'

मैंने कहा, 'मैं उसी स्टेट से आया हूं जहां ह्वाइट टाइगर होते हैं।'

इस पर बच्चों में बड़ा कौतूहल आ गया। मैंने बिलकुल कहानी की तर्ज़ पर ह्वाइट टाइगर के बारे में बताया तो बच्चों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

फिर एक बच्ची बोली, 'टेल अस अबाउट ताजमहल?'

मैंने उसकी कहानी सुनाई। अब तो बच्चों ने सवालों का जख़ीरा उंड़ेल दिया।

मैंने एक्शन कर-करके कहानियां सुनाईं। बच्चे इतने खुश होते कि तालियां बजा-बजाकर चीयर्स करते। ईवा तो आकर लिपट ही गई और मेरे गालों पर पेट्स दिए। टेनी बोले, 'यू हैव ए ग्रेट टेलेंट आव स्टोरी टेलिंग।'

मुझे पहली बार पता लगा कि मुझमें कहानी कहने की प्रतिभा है।

एक वीक तक हम लोग केलीस प्लेन में रहे। मैं रोज़ ही पढ़ाता रहा।

एक दिन एक बच्चे ने क्लास में एक पटाखा चला दिया। टैनी और ईवा एकदम दौड़े। बच्चे को पकड़कर डांटने लगे। बच्चा सॉरी कह-कहकर रुआंसा हो

गया। मैंने टैनी और ईवा से कहा– 'आई विल डू सम एक्टिविटी विद चिल्ड्रन! आई विल मेक सम पेपर क्रैकर्स।'

टैनी बोला– 'हाऊ, हाऊ!'

मैंने बच्चों से कहा– 'यू नीड नॉट ब्रिंग एनी क्रैकर्स हियर। आइ विल टीच यू.हाऊ टू मेक क्रैकर्स विद दी पेपर। दे आर टोटली डेंजर फ्री।'

बच्चे एकदम उमंग से भर गए।

मैंने कहा– 'जाओ काग़ज़ लाओ।' बच्चे दौड़कर काग़ज़ ले आए। मैंने सबसे पहले काग़ज़ का पटाखा बनाया और झटके से उसे चलाया तो तेज़ आवाज़ आई, बच्चे एकदम खुश होकर तालियां बजाने लगे। फिर मैंने नाव, हवाई जहाज, फिरकनी, रॉकेट आदि कई चीज़ें बनाईं। बच्चे मेरे आस-पास मुझसे झूल गए। कहने लगे– 'टीचर! प्लीज टीच अस हाउ टू मैक देम।' इस बीच ईवा और टैनी भी बोले– 'ओके, ओके मिस्टर डेव नाऊ टीच अस हाऊ टू मैक देम।'

मैंने पूछा– 'आपके यहां ऐसा नहीं होता?'

इस पर उन्होंने कहा– 'नो! हमारे यहां तो कम्प्यूटर गेम्ज होते हैं, रेडीमेड मैकेनिकल या इलेक्ट्रॉनिक ट्वाइज होते हैं।'

मैंने कहा– 'देखिए हाथ से बनाने का क्या रोमांच होता है। बच्चे मोटर एक्टी- विटी से कितने खुश होते हैं।' मैंने पहली बार प्राइमरी क्लास में यह प्रदर्शन देश से बाहर जाकर किया। मुझे लगा, हम भारतीय इन गोरों से किस बात में कम हैं? थोड़ी देर में मिस्टर मॉरीसन इंस्पेक्टर आ गए। उन्होंने भी सब कुछ देखा। ईवा से कुछ कमज़ोर बच्चों के लिए किए जा रहे प्रयासों के बारे में पूछा। मेरा काम देखकर बच्चों से पूछा, 'डिड यू इंज्वॉय इट?'

बच्चे, 'वेरी मच, वेरी मच' बोल उठे।

इंस्पेक्टर ने दोनों टीचर्स से कहा, 'बेटर वी लर्न दिस आर्ट फ्रॉम दीज़ पीपुल!'

थोड़ी देर बाद वे चले गए। ईवा बोली, 'ओ गॉड!' उसने राहत की सांस ली। मैंने पूछा– 'क्यों क्या हुआ?'

'क्या बताऊं मिस्टर डेव, इंस्पेक्टर्स ऑर नेवर गुड! दे आर ड्रेडफुल! वो तो आप लोग थे, कुछ नहीं बोले। वरना एक-एक बच्चे से न जाने क्या-क्या पूछते।'

मैंने सोचा, इंस्पेक्टर शब्द दुनियाभर में कितना बदनाम है। हमारे देश का इंस्पेक्टर तो भयानक ही है। वह शिक्षा या शिक्षक को कम, उनकी जेबों को ज़्यादा देखता है। स्त्री हो तो उसके शरीर का इंस्पेक्शन तो सबसे ज़्यादा करता है।

ईवा ने मेरा हाथ पकड़ा और बोली, 'मिस्टर डेव यू हेव सेव्ड अस फ्रॉम दिस इंस्पेक्टर टुडे। वेरी मैनी थैंक्स।'

मैं क्या कहता।

कुछ देर बाद एक बूढ़ा-सा आदमी आया। ईवा पढ़ा रही थी। मैं कक्षा देख रहा था। वह आदमी कक्षा में आया। ईवा बोर्ड पर कुछ समझा रही थी।

ईवा दौड़कर उससे चिपट गई। दोनों ने एक-दूसरे पर चुंबन दिए। ईवा होगी कोई 35-40 साल की और वह व्यक्ति होगा 50 से ऊपर।

ईवा ने उससे मेरा परिचय कराया। मिस्टर डेव, ही इज जॉन, ही इज माई हसबेंड। ही लिव्ज इन सिडनी। ही कम्ज हियर ऑन एवरी वीकएंड।

मैंने कहा– 'हाऊ कम, ही लिव्ज देयर, वॉय नॉट हियर?'

उसने कहा– 'वहां वह अपनी दो लड़कियों के साथ रहता है, यहां मैं अपनी दो लड़कियों के साथ रहती हूं।'

मुझे ताज्जुब हुआ। मैंने पूछा, 'उनकी लड़कियां, आपकी लड़कियां, यह कैसे?' ईवा ने कहा– 'उसकी पहली बीवी से दो लड़कियां और मेरे पहले पति से मेरी दो लड़कियां।'

मैं समझ गया। दोनों ने एक-दूसरे को फिर चूमा। जॉन गाड़ी में बैठकर हवाई अड्डे के लिए रवाना हो गया। ईवा हाथ हिलाकर विदा करती रही।

इसके बाद मुझसे आकर फिर चिपक गई।

मैंने कहा, 'वॉट इज दिस मैम!'

बोली– 'जब भी जॉन आकर जाता है तो मैं नर्वस हो जाती हूं। मैं चाहती हूं मेरा हसबेंड मेरे साथ चौबीसों घंटे रहे। लेकिन उसका जॉब वहां है, मेरा यहां। कभी वह आता है, कभी मैं जाती हूं...वीकएंड या वेकेशन में मिलना होता है। उसे तो वेकेशन भी नहीं, वह टूरिज्म में है न!'

मैंने सोचा, एक स्त्री चाहे भारत की हो या ऑस्ट्रेलिया की, अपने अकेलेपन से कितनी डरती है, कितनी बेचेन होती है। मुझमें शायद उसे किसी ऐसे व्यक्ति की छवि दिखाई दी जो उसे ढांढस बंधाने का बूढ़ा शौक निभा सके।

दूसरे दिन स्कूल में गांव की एक नर्स आई। वह एक पक्षी लेकर आई। उस पक्षी का रंग तीतर जैसा था। वह उसके घर के आंगन में पेड़ पर से गिरा था। उसकी मां उड़ गई थी। नर्स ने उसे पाला, पोसा और एक दिन वह उसे बच्चों को दिखाने

ले आई। बच्चों ने देखा तो वे उसे पुचकारने लगे, उसके पंख हिलाने लगे।

टैनी ने कहा— 'ऐसा मत करो। चलो इसका वेट लो।'

बच्चों ने टोइंग मशीन पर इसका वेट किया। हर बच्चे से वेट ले-लेकर लिखने को कहा। किसी का वेट टू पाउंड, किसी का टु एंड अ हॉफ। फिर हाइट नापी, अलग-अलग अंगों का नाप किया और टीचर के कहने पर सब लिखा। उसका कलर, उसका चेहरा, उसका वेट, सब लिखा।

मैंने सोचा देखो कम्युनिटी पार्टिसिपेशन इसे कहते हैं। टीचर ने नर्स से पक्षी का नाम पूछा तो उसे भी मालूम नहीं था। टीचर ने बच्चों से कहा—जाओ लाइब्रेरी में एनसाइक्लोपीडिया ऑफ बर्ड्स लाओ। वे ले आए। उसमें पक्षी का चित्र था जिसके नीचे लिखा था—फ्रॉगमाउथ। क्योंकि पक्षी का मुंह मेंढक की तरह था, इसलिए उसका नाम था फ्रॉगमाउथ। बच्चों ने कोश से उसकी सभी विशेषताएं पढ़कर सुनाईं। इस तरह बच्चों को समुदाय ने अपने पर्यावरण से अपने आप जोड़ दिया।

अब हम एक विकलांग स्कूल पहुंचे। जहां अत्यंत सुंदर दो लड़कियां बच्चों की टीचर्स थीं। एक का नाम था रेबेका, दूसरी का नैनी। विकलांग और रिटार्टेड बच्चों की जिस तरह वे देखभाल करतीं, उनका थूक, उनकी उलटी, उनका पेशाब तक साफ़ करतीं, कपड़े बदलतीं...यह देखकर मन भर आया। फीजियोटीचर आती, बच्चों को बड़े लाड़-प्यार से मां-बाप की देख-रेख में फीजियो कराती। उन्हें खाना खिलाती, पानी पिलाती। वे सोना चाहते तो उनके बिस्तरों पर जाकर सुलाती। एक क्षण को भी उनका पैर ज़मीन पर न टिकता। पक्षियों की तरह फ़ुदकती। भरपूर जवानी, उत्थित वक्ष, छरहरा बदन, नीली-नीली झील-सी आंखें, आंखों में बेपनाह आकर्षण। वह हमारा हाथ पकड़कर ले जाती और हर चीज़ बताती। यह बोटिंग एक्सरसाइज, यह ऑटोचेयर एक्सरसाइज, यह व्हीलचेयर एक्सरसाइज, यह रैंप इस तरह सारे कमरे दिखातीं। कई एक्टिविटी खुद करके बताती।

मैंने पूछा— 'आपने कोई स्पेशल एजुकेशन कोर्स किया है क्या?'

रेबेका ने कहा— 'यस, यस! हमारे यहां बारहवीं के बाद जो टीचर बनना चाहते हैं उनके लिए प्राइमरी डिप्लोमा थ्री ईयर्स का होता है और स्पेशल एजुकेशन डिप्लोमा फोर ईयर्स का।'

मैंने कहा— 'आप यंग हैं, सुंदर हैं, मेरिजेबल उम्र की हैं, आपके ब्वॉय फ्रेंड्स होंगे, यह सब काम इतनी इन्वाल्वमेंट और कमिटमेंट के साथ कैसे करती हैं?'

उसने कहा– 'यह तो हमारा काम ही है। हम इसे एंज्वॉय करती हैं। इस वक्त ये बच्चे ही हमारे लिए सब कुछ हैं। बाकी दुनिया का तो हमें पता ही नहीं रहता।'

मैंने कहा– 'हेड्स ऑफ टु यू। ऐसे टीचर्स हों तो दुनिया के सारे विकलांग ठीक हो जाएं।' वे भी बहुत खुश। फिर बोलीं, 'मिस्टर डेव आप कुछ बात कीजिए न बच्चों से!'

बच्चों से मैंने कहा– 'आइए एक कहानी सुनाता हूं।'

एक बच्चा लपककर आया और मेरी टाई पकड़ ली। एक बच्ची गोद में ही आ बैठी, बाकी सब सटकर बैठ गए। रेबेका और नैनी भी मेरे आस-पास आ खड़ी हुईं। मैंने हाथी की कहानी सुनाई और फिर एक्शन करने लगा। बच्चे भी मेरे साथ एक्शन करने लगे। फिर मैं गोल-गोल घूमा बच्चे नाचने लगे। बच्चों को बड़ा मजा आया।

रेबेका ने कहा, 'वेरी नाइस मिस्टर डेव! थैंक यू सो मच!'

मैंने कहा– 'मेरे मन में आप दोनों के प्रति बहुत श्रद्धा है। मैं अपने देश जाकर इस पर एक कहानी लिखूंगा जिसमें आप दोनों होंगी।'

दोनों ने कहा– 'रियली?'

मैंने दोनों को गले लगाया, दोनों के गालों को चूमा!

थोड़ी देर में गाड़ी आ गई जिसमें टॉम मैक्सवेल आए थे। वे उतरे, नैनी और रेबेका के गालों को चूमा। पूछा, कैसा रहा आज?

रेबेका ने कहा– 'मिस्टर डेव ने बहुत अच्छी कहानी सुनाई, बच्चों ने खूब एंज्वॉय किया।' चलते-चलते मैक्सवेल ने रेबेका के होठों पर चुंबन लिया और हम लोग चल दिए।

रास्ते में मैक्सवेल ने पूछा, 'कैसा रहा यहां का एक्सपीरियंस?'

मैंने कहा– 'वेरी इंटरेस्टिंग, सबसे अच्छा।'

'लड़कियों का परफार्मेंस कैसा रहा?'

मैंने कहा, 'क्या कहना' और मैंने मैक्सवेल से पूछा, 'अगर आपको बुरा न लगे तो एक बात पूछूं?'

'यस, यस!' उसने कहा।

मैंने कहा, 'क्या रेबेका आपकी गर्लफ्रेंड है? आप तो मेरीड हैं, आपकी एक लड़की भी है। रेबेका होगी ज़्यादा-से-ज़्यादा 25-30 साल की और आप करीब 40-45 साल के।'

उसने कहा, 'मेरा डिवोर्स हो चुका है। मेरी लड़की नेक्स्ट जनवरी में एटीन की हो जाएगी। फिर वह अपने ब्वॉयफ्रेंड के साथ रहेगी और मैं रेबेका से शादी कर लूंगा।'

मैंने कहा, 'आज इसीलिए आप हमें लेने आए कि यहां रेबेका है आपकी फियेंसी।'

वह जोर से हंसा– 'मिस्टर डेव आप एक इंटेरस्टिंग पर्सन हैं। चीज़ों को भांप लेते हैं। यस आई एम इन लव विद हर। वह भी आर्मीडेल में रहती है। उसका एक ब्वॉयफ्रेंड था। मेरिज के पहले ही दोनों अलग हो गए। फिर एक दूसरा लड़का उसके पास आया। दोनों साथ रहे मगर वह भी चला गया।'

मैंने पूछा– 'जब दो-दो के साथ नहीं बनी तो क्या आप जैसे डिवोर्सी के साथ बन जाएगी?'

'हॉय नॉट! मैं एक एक्सपीरियेंस्ड आदमी हूं। मैं जानता हूं रेबेका को कैसे खुश रखूं।' आगे बोला, 'देखिए मिस्टर डेव! रेबेका एक विकलांग स्कूल की टीचर है। इस कारण कुछ न्यूरोटिक प्रॉब्लम्ज हैं। एबनॉर्मल्ज के साथ काम करते-करते कुछ तो हो ही जाता है न! फिर उसके भी एंबीशंस और पेशंस हैं। मैं समझता हूं मैं साइकलॉजी पढ़ाता हूं। इसलिए बेहतर जानता हूं।'

मैंने कहा– 'यस, रेबेका ज़रूर खुश रहेगी। कितनी सुंदर और विनम्र है वह! कितना काम करती है? हमेशा मुस्कराती रहती है। हर बच्चे को मां से भी ज़्यादा चिंता के साथ देखती है। नैनी भी साथ देती है, मगर रेबेका का तो कहना ही क्या?'

'मिस्टर डेव अगर आप इतने इंप्रेस्ड हैं तो आप अपना ओपिनियन डॉ. डेविड और इंस्पेक्टर मॉरिसन को भी दे दीजिए। उसे मेरिट मिल जाएगा।'

मैंने कहा, 'श्योर!'

दूसरे दिन फील्ड में जाने के पहले पूरे काम की रिपोर्ट होती, चर्चा होती और फिर अगले काम के लिए रवाना होते। मैंने रेबेका की तारीफ़ की तो डॉक्टर डेविड ने कहा– 'राइट योर रिमार्क इन द रिपोर्ट।'

उस दिन शाम को इंस्पेक्टर ऑफिस में मीटिंग थी आर्केड में। सब एकत्रित हुए–टैनी, ईवा, रेबेका, नैनी, डॉ. डेविड, मैक्सवेल और हमारा ग्रुप। सब कुछ रिपोर्ट करने के बाद मैंने विकलांग स्कूल पर लिखी अपनी रिपोर्ट पढ़ी। रेबेका और नैनी की खूब तारीफ़ की, रेबेका की कुछ ज़्यादा ही। रेबेका को सभी ने बधाई दी।

हेनरिक्स ने कहा– 'मिस्टर डेव इज वेरी इमेजिनेटिव। ही हैज़ डन वेरी मैनी इनोवेशंस।' इस पर सबने ताली बजाई। रेबेका सीट पर से उठकर आई और मेरे गले लगकर थैंकयू, थैंकयू की झड़ी लगा दी और मेरे गालों पर होठों से चुंबन टांक दिए। मैं कुछ लजा गया।

मुझे एक तरकीब सूझी। मीटिंग से पहले मैंने आर्केड से कुछ टॉफी ली थीं। एक टॉफी खोलकर रेबेका के मुंह में डाल दी और फिर बाकी टॉफीज सबको बांट दीं। रेबेका ने भी एक टॉफी मेरे हाथ से लेकर मेरे मुंह में डाल दी।

शाम को डॉ. डेविड के घर पार्टी थी। किसी ने वाइऩ, किसी ने शैम्पेन, किसी ने बीयर पी। मैंने एक पेग शैम्पेन लेने के बाद स्कॉच के दो-तीन पैग पी डाले। जोरों का डिस्कशन चला। डेविड ने पूछा– 'ऑस्ट्रेलिया कैसा लगा?' पहले तो मैंने कहा, 'रेबेका जैसा।' फिर मैंने कहा, 'यह सवाल पूछने का मतलब आप अपनी तुलना यूरोप से कर रहे हैं। दिस इज अ सिंबल ऑफ इंफीरियरिटी।' फिर मनोविज्ञान, दर्शन, एजुकेशन सब पर बहस चलती रही। तीन पैग स्कॉच के बाद मैंने यह नहीं सोचा कि मैं किन्हीं ऑस्ट्रेलियंस के आगे बोल रहा हूं। मेरे लीडर हेनरिक्स बार-बार मेरा हाथ दबाते, चुप कराते। पी-खाकर रात ग्यारह बजे हम गेस्ट हाउस पहुंचे।

सुबह मीटिंग में डेविड ने कहा, 'हाऊ आर यू मिस्टर डेव। रात को तो आप बिलकुल फिलॉसफर हो गए थे।'

मुझे रात के अपने बोलने पर शर्म आई। मैंने कहा– 'आई एम सॉरी, आई एम सॉरी। आज हम यहां से चल देंगे।'

डेविड ने कहा– 'यहां का स्टे बहुत अच्छा रहा...हमने बहुत कुछ सीखा भी और अपना काम भी बताया।'

हमारे ग्रुप के ही सदस्यों ने अपने-अपने अनुभव सुनाए। वहां की उपलब्धियां गिनाईं। अब हमें दूसरे एरिया में जाना था।

मुझसे अंत में वोट ऑफ थैंक्स के लिए कहा गया। आज भी सभी मौजूद थे। मैंने अनुभव बताए, उपलब्धि बताते हुए कहा, टैनी, ईवा, जैनी, नैन्सी, रेबेका, नैनी सबके सब हमारी यादों में हमेशा रहेंगे और डॉ. डेविड और मिसेज जेम डेविड को भूलना तो नामुमकिन है। खूब प्यार मिला, अच्छा अनुभव लिया हमने खूब सीखा भी। मगर इस पूरे स्टे में मेरी पर्सनल उपलब्धि है...मैक एड रेबेका। मैक (मैक्सवेल का बोलता नाम) कांग्रेट्स इन एडवांस! मैंने जेब से खादीग्राम उद्योग के कपड़े का

पेंटिंग जैसा एक वाल हैंगिंग निकाला...रेबेका और मैक को साथ बुलाया और कहा, दिस इज माई इंडियन मैमोरी! मैक से मैं गले मिला, रेबेका मुझसे चिपक गई, मैंने उसे चुंबन दिया।

हम टी पर बातचीत करने लगे। थोड़ी देर बाद हमारी गाड़ी आ गई। हम गाड़ी में बैठने लगे।

रेबेका और मैक दौड़कर विश करना चाहते थे, हाथ मिलाना चाहते थे...मैंने कार की खिड़की से हाथ बाहर निकाला...हाथ बस छुआ भर ही। गाड़ी चल पड़ी, मैं पीछे ही पीछे देर तक देखता रहा...रेबेका और मैक हाथ हिलाकर हमें विदा दे रहे थे।

♦♦♦

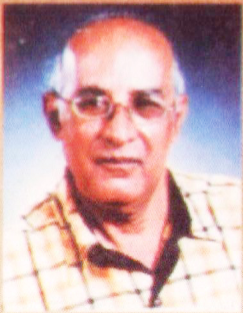

जन्म : 07 नवंबर, 1935, शाजापुर (म.प्र.)

शिक्षा : एम.ए. इतिहास, अंग्रेज़ी, एम.एड., डिप्लोमा इन इंग्लिश टीचिंग।

प्रकाशन—कविता : कांच के दरख़्त का डर, पिकासो के घोड़े हुसैन के घर। आलोचना : समकालीन अफ्रीकी साहित्य, समकालीन रचना और विचार, कृष्ण बलदेव वैद—गल्प का विकल्प, आलोचना : समय और साहित्य, हिंदी आलोचना : अंत का आरंभ। नाटक : एक नहीं था अफलातून, सुल्तान अहमद का हुक्मनामा, चीख़। कथा-साहित्य : देहदीक्षा।

बाल साहित्य : बच्चा-बच्चा गाए, करतब लंबू द्वीप में, कुलबुली कूकी, कलम बेगम, कैसे खेल कन्हाई के, बंद मुट्ठी। शिक्षा : मैं इस तरह नहीं पढ़ूंगी, बेहतर शिक्षक, बेहतर शिक्षा, शिक्षा में नवचिंतन, शिक्षण प्रतिमान, गिजुभाई बधेका के विचार और प्रयोग, हम और हमारी शिक्षा, शिक्षा-सोचना या सूचना। संपादन : पलाश, क्वार्टरली न्यूज लेटर। अनुवाद : बौना-पॉर लागरक्विस्त स्वीडिश कथाकार के द डवार्फ उपन्यास का सां. अकादमी के लिए, काले आदमी चलोगे नहीं चांद पर : ग्यारह अफ्रीकी देशों के 37 कवियों का अनुवाद।

विदेश यात्राएं : आस्ट्रेलिया, थाईलैंड, नेपाल, इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, स्विट्ज़रलैंड।

सहभागिता : सौ से अधिक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, सम्मेलनों में पत्र-पठन एवं सहभागिता।

सम्मान : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आलोचना सम्मान म.प्र. साहित्य अकादमी, श्रेष्ठकला आचार्य, मालीव रत्न, अभिनव शब्द-शिल्पी।

संप्रति : अध्यक्ष, म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल, 'समावर्तन' प्रधान संपादक।

संपर्क : एस.एच. 19, ब्लाक 8, सहयाद्रि परिषद् मदभदा रोड, भोपाल (म.प्र.)

दूरभाष : 0755-2777048 मोबाइल : 9406523071

की रूह प्रेमचंद की रूह प्रेमचंद की रूह प्रेमचंद की रूह